मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 13 ● वर्ष 2 ● अंक 4 ● जून 2012 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

संकट के दलदल में धँस रही भारतीय अर्थव्यवस्था

सम्पादकीय

भारतीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान चाल-ढाल बता रही है कि आने वाले दिनों में इसका संकट और गहरायेगा। यह संकट भारत की मेहनतकश अवाम के लिए भी ढेरों मुसीबतें लेकर आयेगा। शासक वर्ग अपने संकट का बोझा मेहनतकश जनता की पीठ पर ही लादते हैं। उसे ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई में और अधिक बढ़ोत्तरी से इसकी क़ीमत चुकानी होगी। भारत के मेहनतकशों को भी इन हालात का सामना करने और संकट का बोझ जनता पर थोपने की कोशिशें के विरुद्ध लड़ने के लिए अभी से तैयारी शुरू कर देनी होगी।

2007 के अमेरिकी सबप्राइम संकट से शुरू हुए आर्थिक संकट के घने बादल आज विश्व की लगभग सभी पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं पर छाये हुए हैं। दिन-प्रतिदिन ये बादल गहराते जा रहे हैं, जो आने वाले भयंकर तूफ़ान का संकेत दे रहे हैं। वित्तीय वर्ष 2012-13 में विश्व अर्थव्यवस्था का संकट और भी गहरा होगा। विश्व पूँजीवाद की चाकर सभी एजेंसियाँ अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र और तमाम बुर्जुआ अर्थशास्त्री एक स्वर में यह बात कह रहे हैं। पिछले दिनों संयुक्त राष्ट्र द्वारा जारी रिपोर्ट 'वैश्विक आर्थिक स्थिति और संभावनाएँ 2012' में कहा गया है कि विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के गहराते जा रहे संकट की चपेट में इस बार "उभर रही अर्थव्यवस्थाएँ" भी आयेंगी। इन उभर रही अर्थव्यवस्थाओं में एशिया की तीसरी सबसे बड़ी तथा चीन के बाद तेज़ आर्थिक वृद्धि वाली एशिया की दूसरी अर्थव्यवस्था भारत भी शामिल है।

भारत के हुक्मरान विश्व पूँजीवादी आर्थिक संकट के भारत पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों से लगातार इन्कार करते रहे हैं। पिछले साल जब अमेरिकी एजेंसी स्टैण्डर्ड एंड पुअर ने भारत की कर्ज़ रेटिंग घटा दी थी तब वित्त मंत्री प्रणब मुखर्जी का कहना था कि इसका भारत पर कोई ख़ास प्रभाव नहीं पड़ेगा। उन्होंने कहा था, "हमारी संस्थाएँ इतनी मज़बूत हैं कि हम वर्तमान हालात से पैदा होने वाली किसी भी चुनौती से निपटने के लिए तैयार हैं।" साथ ही उन्होंने यह भी कहा था, "हम बाकी बचे सुधारों को अमल में लाने की गति को तेज़ करेंगे।" लेकिन पिछले दिनों रुपये के मूल्य में आयी रिकॉर्ड गिरावट तथा आर्थिक वृद्धि दर के नीचे जाने ने यह संकेत दे दिये कि भारत भी अब विश्व पूँजीवादी आर्थिक संकट की चपेट में आ रहा है। यह संकेत इतने स्पष्ट हैं कि अब भारत के शासक भी इसे मानने लगे हैं। 6 जून को जारी एक बयान में अर्थशास्त्री प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने माना कि "देश एक कठिन दौर से गुज़र रहा है।" साथ ही उन्होंने कहा कि "इस स्थिति में बदलाव लाने और फिर से उच्च आर्थिक वृद्धि दर के रास्ते पर लौटने के लिए रुकावटों तथा अड़चनों को दूर करने की ज़रूरत है।" ये रुकावटें तथा अड़चनें आर्थिक सुधारों के रास्ते की रुकावटें-अड़चनें ही हैं। प्रधानमन्त्री तथा वित्तमन्त्री, योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोण्टेक सिंह अहलूवालिया, प्रधानमन्त्री के आर्थिक सलाहकार सी. रंगराजन तथा अन्य लगभग सभी बुर्जुआ अर्थशास्त्री, सभी अख़बार आर्थिक सुधारों की गति तेज़ किये जाने की ज़ोर-शोर से वकालत कर रहे हैं। इन आर्थिक सुधारों में पब्लिक सेक्टर का तेज़ी से निजीकरण, श्रम क़ानूनों में बदलाव, हर तरह की सब्सिडियों का ख़ात्मा तथा देश की अर्थव्यवस्था को विदेशी पूँजी के लिए और अधिक खोलना शामिल है।

स्पष्ट है कि देश के शासक एक तो वर्तमान आर्थिक संकट का सारा बोझ देश की मेहनतकश आबादी पर लादना चाहते हैं। दूसरे, वे देश की अर्थव्यवस्था को विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ और अधिक जोड़ना चाहते हैं। जिन सुधारों की बदौलत भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से इस कदर जुड़ी है कि उसके हर उतार-चढ़ाव का असर यहाँ पड़ने लगा है, प्रणब मुखर्जी तथा मनमोहन सिंह उन्हीं आर्थिक सुधारों की गति और तेज़ करना चाहते हैं। ख़ैर, वर्तमान विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इस आत्मघाती रास्ते के अलावा भारतीय हुक्मरानों के पास और कोई रास्ता भी नहीं है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक संकट की दस्तक

एक गंभीर संकट भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाजे पर दस्तक दे रहा है। केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (सीएसओ) द्वारा जारी किये गये आँकड़े इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। किसी भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का स्वास्थ्य आमतौर पर उसके सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर से जाना जाता है। पिछले नौ वर्षों से भारत के सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर काफ़ी ऊँची रही है। 2003-04 में यह सालाना 8.1 प्रतिशत थी, 2004-05 में यह 9.5 प्रतिशत, 2006-07 में सबसे ऊँची 9.6 प्रतिशत थी, जोकि 2011-2012 में गिरकर 6.5 प्रतिशत रह गयी। 2011-12 की आख़िरी तिमाही में तो यह महज़ 5.3 प्रतिशत थी, जोकि पिछले नौ सालों में सबसे कम थी। सकल घरेलू उत्पाद में भी अगर अलग-अलग सेक्टरों की वृद्धि दर देखें तो तस्वीर और भी निराशाजनक दिखायी देती है। मैन्युफ़ैक्चरिंग क्षेत्र की वृद्धि दर जोकि 2010-2011 के वित्तीय वर्ष में 7.6 प्रतिशत थी, वह 2011-12 में घटकर 2.5 प्रतिशत रह गयी। और इसमें भी 2011-12 की अन्तिम तिमाही (जनवरी-मार्च 2012) में तो यह सिर्फ़ 0.3 प्रतिशत थी। सेवा क्षेत्र की वृद्धि दर जोकि 2010-11 में 9.3 प्रतिशत थी, 2011-12 में घटकर 8.9 प्रतिशत रह गयी। कृषि क्षेत्र में भी वृद्धि दर में तीखी गिरावट देखी जा सकती है। 2010-11 में यह वृद्धि दर 7 प्रतिशत थी जोकि 2010-11 में घटकर 2.8 प्रतिशत रह गयी। 2011-12 की आख़िरी तिमाही में यह महज 1.7 प्रतिशत थी। भारत का बजट तथा व्यापार घाटा सकल घरेलू उत्पाद के 5.8 प्रतिशत तक पहुँच चुका है। चालू खाते का घाटा 4 प्रतिशत पार करने जा रहा है, जबकि सभी पूँजीवादी अर्थशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि चालू खाते का घाटा सकल घरेलू उत्पाद के 2.5-3 प्रतिशत से ज़्यादा नहीं होना चाहिए। **भारतीय अर्थव्यवस्था के सभी प्रमुख संकेतक यह दिखा रहे हैं कि यह अब ढलान से लुढ़कने लगी है।**

भारतीय रुपये का मूल्य अमेरिकी डॉलर के मुकाबले लगातार गिरते जाना शासकों का एक बड़ा सिरदर्द है। पिछली 31 मई को रुपये के मूल्य में रिकॉर्ड गिरावट दर्ज की गयी, जब इसका मूल्य 56.52 रुपये प्रति अमेरिकी डॉलर रह गया। अभी भी यह इसी के आसपास डोल रहा है।

रुपये की लड़खड़ाती हालत का एक कारण तो यह है कि अब विदेशी संस्थागत निवेशक भारत में निवेश को सुरक्षित नहीं मानते। पिछले महीने वैश्विक फर्मों स्टैंडर्ड एंड पुअर, मूडी तथा फिच ने भारत को नीची निवेश गोल्ड रेटिंग (बी.बी.बी.) दी। इसी तरह मॉर्गन स्टेनले, गोल्डमैन साक्स तथा मेरिल लिंच ने भारत की आर्थिक वृद्धि दर घटकर क्रमशः 6.3, 6.6, तथा 6.5 प्रतिशत होने की भविष्यवाणी की थी। इसकी वजह से विदेशी निवेशक भारत से भागने लगे हैं। भले ही अभी भारत में विदेशी पूँजी लगातार आ रही है, लेकिन पहले से यहाँ जो विदेशी पूँजी लगी है, वह भागने लगी है। 2012 की पहली तिमाही में ही विदेशी निवेशकों ने यहाँ से 1000.7 करोड़ डॉलर की पूँजी निकाल ली, जोकि इसी साल भारत में आयी विदेशी पूँजी का लगभग 43 प्रतिशत थी। इस कैलेण्डर वर्ष में अप्रैल तक विदेशी फ़ण्डों ने भारत में 43,833 करोड़ रुपये का पूँजी निवेश किया था जिसमें से 23 मई 2012 तक 927 करोड़ निकाला जा चुका था। अभी हाल की एक रिपोर्ट के अनुसार पी-नोट्स के ज़रिये निवेश करने वाली विदेशी इकाइयों ने पिछले तीन महीनों में 1 लाख करोड़ रुपये से अधिक की पूँजी भारतीय बाज़ार से निकाल ली।

भारतीय मुद्रा के मूल्य में गिरावट की दूसरी वजह यह है कि इस समय अमेरिका और यूरोपीय यूनियन के देश भीषण मन्दी से जूझ रहे हैं। भारत में ज़्यादातर विदेशी निवेश इन्हीं देशों से हो रहा है। इन देशों में मन्दी के चलते वहाँ के निवेशकों को अपने देशों में अपनी देनदारियाँ पूरी करने के लिए भी पूँजी की ज़रूरत पड़ती है। इसलिए भी वे भारत जैसे देशों से अपनी पूँजी निकाल रहे हैं।

(पेज 14 पर जारी)

पेशागत बीमारियों और इलाज में उपेक्षा की दोहरी मार झेलती हैं स्त्री मज़दूर 4
कड़वे बादाम : दिल्ली के बादाम उद्योग में मज़दूरों का शोषण 5
मौत के मुहाने पर: अलंग के जहाज़ तोड़ने वाले मज़दूर 7
स्वयंस्फूर्ति की पूजा थोड़ी कम कीजिए और ख़ुद अपनी क्रियाशीलता को बढ़ाने की चिन्ता ज़्यादा कीजिये! - लेनिन 14
चित्र कथा: ऐसे हुई पेरिस कम्यून की शुरुआत 8-10
पेट्रोल मूल्य वृद्धि लोगों की जेब पर सरकारी डाकेज़नी 16

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

एकजुट संघर्ष से ही हासिल होगी बेहतर जिन्दगी

कानून गया तेल लेने, यहाँ तो सिर्फ़ मालिकों की चलती है – यह लेख मैंने बिगुल के मार्च अंक में पढ़ा था। यह बात सिर्फ़ समयपुर, लिबासपुर, यादवनगर के इलाके पर ही लागू नहीं होती बल्कि जहाँ-जहाँ भी कारख़ाने लगे हुए हैं वहाँ-वहाँ मालिकों की ही मर्ज़ी से काम चलता है। ऐसे ही लुधियाना के पावरलूम मज़दूरों को मालिकों की मनमर्ज़ी का सामना करना पड़ रहा है। पिछले कई वर्षों से मैं मज़दूर बिगुल पढ़ रहा हूँ। और भी बहुत सारे मज़दूर यह अख़बार पढ़ते हैं। मज़दूरों में यह चेतना आयी है कि इन मालिकों को अगर झुकाना है को एक अपना संगठन बनाना पड़ेगा। हम मज़दूरों ने इस बात को समझकर सन 2010 में टेक्सटाइल मज़दूर यूनियन का गठन किया। न्यू शक्तिनगर, गौशाला, माधोपुरी, कशमीर नगर, टिब्बा रोड, गीता नगर, महावीर कालोनी, हीरा नगर, मोतीनगर, कृपाल नगर, सैनिक कालोनी, भगतसिंह नगर, और मेहरबान के हम मज़दूरों ने आवाज़ उठायी और एक न्यायपूर्ण संघर्ष लड़ा और जीता भी। पिछले करीब 20 वर्षों से हम मज़दूरों को मालिकों की मर्ज़ी से काम करना पड़ता था और मालिक जब चाहे काम पर रखते थे और जब मर्ज़ी आये तो काम से निकाल देते थे। गाली-गलौज और मार-पीट आम बात थी। अब एकता बनाकर हम मज़दूर मालिकों के सामने अपने हक की बात सर ऊँचा उठाकर करते हैं। अगर हम पूरे देश और पूरी दुनिया के मज़दूर मिलकर एक हो जाएँ तो देश-दुनिया के सारे मालिकों को झुका सकते हैं। जहाँ-जहाँ हम मज़दूर अपनी वर्ग एकता की ज़रूरत को पहचानेंगे और इसे हासिल करेंगे तो हम मज़दूर अपना हक और अधिकार ले सकेंगे। हम सब मज़दूर मेहनतकश लोग पूरी दुनिया को चलाते हैं। सुई से लेकर उड़ने वाले जहाज़ तक हम मज़दूर बनाते हैं। जब हम मज़दूर हर चीज बनाते हैं तो ये पैसे वाले लोग क़ानून बनाने वाले और क़ानून लागू करने वाले कौन होते हैं। अगर हम मज़दूर और मेहनतकश अपने हालातों को बदलने के लिए संघर्ष नहीं करेंगे तो ये लोग मज़दूरों की अगली पीढ़ी को रोम के गुलामों की तरह पैरों में जंजीर बाँध के काम करायेंगे। हमें कार्ल मार्क्स के इस नारे पर अमल करना होगा – दुनिया के मज़दूरो, एक हो!

– विश्वनाथ, लुधियाना

बिगुल लगातर छापते रहिये

मैं होरी लाल लुधियाना की एक पावरलूम फ़ैक्टरी में ताना मास्टर हूँ। मुझे बिगुल पढ़ना अच्छा लगता है। बिगुल मज़दूरों की चेतना जगाने का काम कर रहा है। इस लगातार छापते रहिये। मुझसे जो सहयोग हो सकेगा जरूर दूँगा। मुझे इसमे थोड़ी कमी यह लगती है कि किसी-किसी लेख में लेखक का नाम नहीं दिया जाता है, इसमें सुधार की कृपा करें।

– होरी लाल, ताना मास्टर,
गणेश वीविंग फ़ैक्ट्री, कशमीर नगर, लुधियाना

बिगुल के लेख अच्छे लगते हैं

मैं बिगुल का नियमित पाठक हूँ। मुझे बिगुल के लेख बहुत अच्छे लगते हैं। यह अखबार बहुत सराहनीय काम कर रहा है। बिगुल में छपा "28 फरवरी की हड़ताल – एक और देशव्यापी तमाशा" बहुत सही लगा। नकली कम्युनिस्टों के असली चरित्र के बारे में बिलकुल सच बताया गया है। मज़दूर इतिहास के बारे में और कार्ल मार्क्स द्वारा लिखित मज़दूरों के अपने श्रम से अलगाव के बारे में लेख मुझे काफ़ी अच्छे लगे।

– विशाल, लुधियाना

माकपा के विचारधारात्मक दस्तावेज़ का सटीक विश्लेषण

मज़दूर बिगुल के मई अंक में माकपा के विचारधारात्मक दस्तावेज का सटीक, सुसंगत और वैज्ञानिक नज़रिये से किया गया विश्लेषण प्रभावित करता है। क्यूबा की पार्टी और सरकार के बारे में आपके नज़रिये से एक विस्तृत आलेख की अपेक्षा है।

– अमर ज्योति, अलीगढ़

मज़दूर बिगुल काफ़ी अच्छा है। कामगार लोगों के बारे में रिपोर्ट सटीक वस्तुस्थिति दर्शाती है। मारुति कम्पनी के विरोध वाला आन्दोलन या और बाकी कामगारों के जो आन्दोलन चल रहे हैं, उनका जो विश्लेषण दिया गया है वह सही है। उन्होंने व्यवस्था परिवर्तन को सामने रखकर जिस तरह से आन्दोलन करना चाहिये था वो नहीं हुआ। ये बात सही है।

– श्याम सोनार, मुम्बई

यह कैसा ज्योतिषी, यह कैसा प्रेम?

एक टीवी चैनल 'कलर्स' पर एक प्रोग्राम आता है जिसको असल घटनाओं पर आधारित बताया जाता है। उसमें एक कहानी दिखायी गयी। एक लड़का और एक लड़की जो आपस में प्रेम करते हैं। दोनों ज्योतिषी के पास जाते हैं जिससे वे अपनी शादी के बारे में जानना चाहते हैं। ज्योतिषी बताता है कि लड़के पर शनि ग्रह हावी है इसलिए यह जिस पहली लड़की से शादी करेगा वो मर जायेगी। उसने यह भी बताया कि दूसरी शादी सफल होगी। दोनों ने आपस में सलाह की कि लड़का पहले किसी और से शादी करेगा और जब वो पहली बीवी मर जायेगी तब वे आपस में शादी कर लेंगे।

मैं सोच रहा हूँ कि इनका यह कैसा प्रेम है जिसके लिए ये अपने लिए किसी और बेगुनाह की ज़िन्दगी लेने पर तैयार हो गये। इस प्रेम में ज़रा भी सच्चाई नहीं है। दूसरी बात यह कि ज्योतिषी ने भी झूठ बोला था। शादी के बाद दूसरी लड़की की मौत नहीं हुई। लोग ज्योतिषियों के चक्करों में फँसे हुए हैं और अपना नुकसान करवा रहे हैं।

– ईमान बहादुर,
लुधियाना से एक मज़दूर

मालिक से लड़ना है तो पहले अपनेआप से लड़ना होगा

बिगुल में मालिकों के शोषण के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए मज़दूरों को जगाया जाता है। लेकिन मज़दूर अपने अन्दर की कमज़ोरी से जब तक नहीं लड़ेगा तब तक बाहरी दुश्मन से भला कैसे लड़ेगा? आपस में इतनी फूट है, सोच में पिछड़ापन है, छोटे-छोटे लालच में पड़कर अपने भाई के पीठ में छुरा मारने का रिवाज है, तो मालिक जीतेगा नहीं? इस पर सोचो, भाई लोगो।

फैक्ट्री में यूनियन बनाने की बात कौन कर रहा है, इसके बारे में मालिक को ख़बर कौन देता है? मज़दूर! आज कौन मज़दूर लेट हो गया, किसका प्रोडक्शन थोड़ा डाउन रहा, कौन ज़रा गरम मिजाज का है होशियार रहियेगा, ये सारी बातें मालिक के कान में कौन डालता है? मज़दूर! बदले में इनको मिलता क्या है? कभी 100-200 रुपये का इनाम तो कभी एक अद्धा। जो इतने के लिए अपने भाइयों से गद्दारी करे क्या वह मज़दूर कहलाने लायक भी है?

– विमलेश, बादली इण्डस्ट्रियल एरिया, दिल्ली

मज़दूर साथियो, 'आपस की बात' आपका पन्ना है। इसमें छापने के लिए अपने कारख़ाने, काम, बस्ती की समस्याओं व स्थितियों के बारे में, अपनी सोच के बारे में लिखकर हमें भेजिये। आपको 'बिगुल' कैसा लगता है, इसमें क्या अच्छा लगता है और क्या कमियाँ नज़र आती हैं, इसे और बेहतर कैसे बनाया जा सकता है – इन बातों पर भी आपकी राय जानने से हमें मदद मिलेगी। आप नीचे दिये पते पर हमें पत्र लिख सकते हैं या बिगुल कार्यकर्ता साथी को ज़ुबानी भी बता सकते हैं।– सम्पादक मण्डल

मज़दूर बिगुल की नयी वेबसाइट
आप यहाँ देख सकते हैं:
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की महत्वपूर्ण सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं।

आप इस वेबसाइट पर जाकर भी बिगुल की सामग्री पर अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं या कोई रिपोर्ट आदि हमें भेज सकते हैं।

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782**
- **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)**
- **114, जनता मार्केट, रेलवे स्टेशन रोड, गोरखपुर-273001**
- **जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009**
- **जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807**

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये। सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक खर्च सहित)

करावलनगर की वॉकर फ़ैक्ट्रियों में मज़दूरों के हालात

उत्तरी-पूर्वी दिल्ली में करावलनगर के औद्योगिक इलाके और उससे लगे क्षेत्र में वॉकर (छोटे बच्चों को चलने में मदद करने वाली साइकिल) और पालना बनाने वाली 14-15 छोटी-छोटी फैक्ट्रियाँ हैं। ज़्यादातर फैक्ट्रियों में 10-15 मज़दूर और कुछ में 30-40 मज़दूर काम करते हैं। ज़्यादातर फैक्ट्रियाँ दलित बस्ती में हैं; कुछ करावलनगर गाँव, पंचाल विहार और दयालपुर में स्थित हैं। इनमें काम करने वाले ज़्यादातर मज़दूर झारखण्ड, बिहार और उत्तर प्रदेश से आये प्रवासी हैं। झारखण्ड के गिरिडीह ज़िले के मुस्लिम मज़दूरों एवं स्थानीय महिलाओं की बड़ी तादाद इस उद्योग में लगी हुई है। ज़्यादातर मज़दूर फैक्ट्रियों के आस-पास बने लॉज में या नज़दीक की बस्तियों में रहते हैं।

इन सभी फैक्ट्रियों के पास न तो कोई रजिस्ट्रेशन है न ही कार्य स्थल पर मज़दूरों की सुरक्षा का कोई पुख़्ता इन्तजाम है। ज़्यादातर में न साफ पीने के पानी की व्यवस्था है, न साफ टॉयलेट की जबकि इन फैक्ट्रियों में महिलाओं की एक बड़ी संख्या भी काम करती है। श्रम क़ानून या सामाजिक सुरक्षा की बात करने का मतलब है काम से हाथ धोना। श्रम क़ानूनों का खुला उल्लंघन पुलिस-प्रशासन के आँखों के सामने और श्रम विभाग की जानकारी में चल रहा है। वॉकर बनाने का सामान जैसे पहिया, कपड़े की सीट, फ्रेम आदि करावलनगर की दूसरी फैक्ट्रियों या बवाना, गाज़ियाबाद, आदि की फैक्ट्रियों से बनकर आता है। इन सभी पुरज़ों को जोड़कर वॉकर और पालना तैयार किया जाता है। वॉकर बेचने वाली अलग-अलग कम्पनियाँ यहाँ वॉकर बनाने का आर्डर देती हैं और अपने ब्राण्ड का स्टिकर लगाकर भारत के कोने-कोने और विदेशों में भी बेचती हैं। कुछ बड़े मैन्यूफैक्चरर्स के पास अपना ही ब्राण्ड है और वह ख़ुद अपना माल बनाकर बेचते हैं। करावल नगर के अलावा गीता कॉलोनी, पटपड़गंज और दिल्ली के कुछ अन्य इलाक़ों में भी वॉकर बनाने का काम होता है।

मज़दूरों में ठेकेदारी मानसिकता – मालिक की चाँदी

ज़्यादातर फैक्ट्रियों में पीस रेट पर काम होता है लेकिन कुछ में मासिक वेतन पर भी होता है। एक वॉकर की पूरी फिटिंग, पैकिंग के लिए केवल 6 रुपये दिये जाते हैं। एक कुशल मज़दूर 7 से 8 घण्टे में लगातार काम करके भी 30 से 35 वॉकर ही बन पाता है। इस तरह 8 घण्टे लगातार काम करके भी वह 180 रुपये से 200 रुपये तक ही कमा सकता है। मालिक यह पूरा काम ठेके पर करवाता है। मज़दूरों के बीच से ही कुछ कुशल मज़दूरों को इसका ठेका दे दिया जाता है। ठेका लेने वाला मज़दूर स्वयं और कुछ हेल्परों को साथ में रखकर इस पूरे काम को करता है। ठेका लेने वाला मज़दूर अपने हेल्पर से 2500 से लेकर 3000 रुपये तक में 8-10 घण्टे काम लेता है। हेल्पर के रूप में काम करने वाली ज़्यादातर महिलाएँ हैं या फिर अर्धकुशल मज़दूर। मज़दूरों के सभी सुरक्षा उपायों की गारण्टी मालिक 'मज़दूर ठेकेदार' पर डाल देता है और चालाकी से एक पैसा ख़र्च किये बिना अपना काम निकालता है। हेल्पर के रूप में काम करने वाले ज़्यादातर मज़दूरों को उसके ही साथ काम करने वाले 'मज़दूर ठेकेदारों' से पैसा मिलता है।

जो मज़दूर ठेका लेकर काम करता है उसकी मानसिकता भी रहती है कि हेल्परों को कम से कम देकर ज़्यादा से ज़्यादा पैसा बना लिया जाये। उसका मज़दूर वर्गीय चरित्र गड़बड़ होने लगता है। एक और मानसिकता यह काम करती है कि यह तो अपना काम है जितना करेंगे उतना मिलेगा, जबकि मालिक पहले से पीस रेट न्यूनतम मज़दूरी से भी कम दरों पर तय करता है। ये लोग 12-14 घण्टे भी काम करें तो भी 200-250 रुपये ही कमा पायेंगे। लेकिन स्वरोज़गार और अपना मालिक स्वयं होने के भ्रम में वे अपनी बदहाली और हाड़तोड़ मेहनत के बावजूद दरिद्रता का जीवन जीने के लिए मालिक को ज़िम्मेदार नहीं समझते। यह वास्तव में मज़दूर वर्गीय चेतना के कुन्द होने के कारण होता है। एक उजरती मज़दूर के तौर पर 'मज़दूर ठेकेदार' की पहचान गड़बड़ा जाती है।

मालिक द्वारा गाली-गलौज आम बात है। कभी-कभी तो कुछ मज़दूरों की पिटाई भी मालिकों के हाथों हुई है। आपस में कोई एकता न होने से मज़दूर कुछ कर नहीं पाते है। मज़दूरों के बीच से ही कुछ मज़दूरों को नाम भर का ठेकेदार बनाकर और फिर इन 'मज़दूर ठेकेदारों' की आपस में होड़ करवाकर मालिक अपनेआप को हर तरह की ज़िम्मेदारी से बरी कर लेता है और फिर बेगारी भी करवाता है। कुशल मज़दूर यह नहीं समझ पाते कि कुशल मज़दूरों को अर्धकुशल मज़दूर या अकुशल मज़दूर को साथ में लेकर ही अपना अधिकार मिल सकता है। मालिक जानबूझकर सभी काम ठेके पर करवाना चाहता है ताकि मज़दूरों को ज़्यादा अच्छी तरह निचोड़ सके और उसे कोई दिक्कत भी न हो।

ऐसे में समझा जा सकता है कि वॉकर कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों के संघर्ष का रास्ता क्या होना चाहिए। ठेका लेकर काम करने वाले मज़दूरों के लिए ज़्यादा अच्छा होगा कि वे वेतन पर काम करें और कुशल मज़दूर की मज़दूरी तथा अन्य श्रम क़ानूनों को लागू करवाने के लिए हेल्परों के साथ मिलकर संघर्ष करें। उन्हें सभी श्रमिक अधिकरों के लिए संघर्ष करना चाहिए चाहे वह पहचान कार्ड हो, ई.एस.आई, पी.एफ़., वेतन बढ़ोत्तरी का सवाल हो या ओवरटाइम डबल रेट से भुगतान का सवाल हो।

यह पूरा उद्योग छोटी-छोटी फैक्ट्रियों में बिखरा हुआ है। पहिया, फ्रेम तथा अन्य सामान अलग-अलग जगहों पर बनता है और जोड़ने का काम कहीं और होता है। इन फैक्ट्रियों में ज़्यादातर 10 से 15 मज़दूर काम करते हैं। इस उद्योग की स्थितियाँ साफ तौर पर दिखला रही हैं कि सबसे पहले तो इस पूरे पेशे के तमाम कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों को एकता बनानी चाहिए ताकि अपने पेशे की साझा माँगों पर वे मालिकों से एकजुट होकर संघर्ष कर सकें। साथ ही उन्हें अपने इलाक़े के अन्य पेशों के मज़दूरों से भी इलाक़ाई यूनियन के बैनर तले एकता क़ायम करनी चाहिए, क्योंकि यह उद्योग पूरी दिल्ली और दिल्ली के बाहर के कई इलाक़ों में बिखरा हुआ है। अन्य पेशों के कारख़ाना मज़दूरों और अनौपचारिक मज़दूरों के साथ इलाक़ाई पैमाने पर वर्ग एकता क़ायम किये बिना किसी भी एक पेशे के मज़दूर अपने संघर्ष को बहुत आगे ले जाने की उम्मीद नहीं कर सकते हैं।

● नवीन

पूर्व श्रम मंत्री की फ़ैक्ट्री में श्रम क़ानून ठेंगे पर!

ज़रा सोचिये कि उस स्थिति में क्या होगा, जब श्रम मंत्री ही अपनी फ़ैक्ट्रियों में श्रम क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाकर मनमाने तरीके से मज़दूरों के श्रम का शोषण करते हों।

जी हाँ, यह चौंकाने वाली बात है फरवरी 2011 तक दिल्ली के श्रम मंत्री रहे मंगतराम सिंघल की, जिनका कि दाल, राजमा, छोले, चना, अरहर वगैरह तरह-तरह की दालों का बहुत बड़ा कारोबार है। पूर्व श्रम मंत्री महोदय की फैक्ट्रियों में अपनी ही सरकार के बनाये श्रम क़ानूनों को ठेंगे पर रखकर मज़दूरों को लूटा जाता है।

उत्तर-पश्चिम दिल्ली के समयपुर बादली औद्योगिक क्षेत्र के प्लॉट नम्बर एम-12 व एम-16 में स्थित दोनो फ़ैक्ट्रियाँ मंगतराम दाल मिल्स प्राइवेट लिमिटेड की हैं। हालाँकि यहाँ की अधिकांश फ़ैक्ट्रियों की तरह इन पर भी किसी कम्पनी के नाम का साइनबोर्ड नहीं लगा है। पहले ये दोनों फ़ैक्ट्रियाँ आज़ादपुर के रिहायशी इलाक़े में चलती थीं। रिहायशी इलाक़ों से कारख़ाने हटाने के सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बाद भी काफ़ी समय तक ये धड़ल्ले से चलती रहीं क्योंकि उस समय मंगतराम जी दिल्ली के माननीय उद्योग मंत्री थे। आख़िरकार मीडिया में शोर मचने के बाद ये फ़ैक्ट्रियाँ बादली चली आयीं। इस बीच मंत्री महोदय का विभाग भी बदल गया और वे उद्योग मंत्री से श्रम मंत्री हो गये। लेकिन वास्तव में वे एक मुनाफ़ाख़ोर पूँजीपति हैं जो अपने मज़दूरों की श्रमशक्ति को निचोड़ने के हर हथकण्डे अपनाते हैं।

फैक्ट्री में आधुनिक मशीनों से दालों की पैकिंग आदि होती है, लेकिन यहाँ पर लगभग सभी अकुशल मज़दूर (हेल्पर) ही हैं। फैक्ट्री में लगातार बाहर से ट्रकों से दालों के बोरे आते हैं जिन्हें अनलोड करने के बाद अलग-अलग दालों को बीनकर कंकड़-पत्थर साफ़ करते हैं। फिर दाल को पैकिंग मशीन में डालकर आधा किलो, 1 किलो आदि के पैकेट बनाये जाते है। फिर इन पैकेटों को गत्ते के डिब्बों में सीलबन्द कर गाड़ी में लोड किया जाता है। सुबह से रात तक दोनों फ़ैक्ट्रियों में लगातार यह काम चलता रहता है।

दिल्ली सरकार द्वारा घोषित अकुशल मज़दूर की न्यूनतम मज़दूरी 7020 रुपये महीना है। मगर पूर्व श्रम मंत्री की इन दोनों फैक्ट्रियों में अकुशल मज़दूर (हेल्पर) की तनख्वाह 8 घण्टे रोज़ के हिसाब से 3800 रुपये महीना है। ओवरटाइम के नियम को धता बताकर फ़ैक्ट्री में हर मज़दूर को यह कहकर भर्ती किया जाता है कि रोज़ 11 घण्टे नियमित काम करना होगा। ओवरटाइम का भुगतान सिंगल रेट से जोड़कर दिया जाता है। मगर मज़दूरों का कहना है कि अगर छुट्टी के समय गाड़ी आ जाती है तो उसको लोड करने के बाद ही छुट्टी होती है, चाहे इसमें जितनी भी देर लगे। और गाड़ियाँ अक्सर आती ही रहती हैं। क़ानून के अनुसार साप्ताहिक छुट्टी देना अनिवार्य है। लेकिन यहाँ मज़दूरों को ललचाया जाता है कि महीने में एक भी छुट्टी नहीं करने पर उन्हें 34 दिन के पैसे मिलेंगे। लेकिन अगर कोई मज़दूर 4 छुट्टियों के बाद किसी भी कारण से पाँचवी छुट्टी कर ले तो उसकी महीने की चारों छुट्टियों के पैसे काट लिये जाते हैं।

दाल मिल होने के कारण कारख़ाने में चारों तरफ़ फैली धूल से दमघोंटू माहौल हो जाता है और भयंकर गर्मी होती है। लेकिन न तो पर्याप्त मात्रा में एग्ज़ास्ट पंखे चलाये जाते हैं और न ही मज़दूरों को मास्क आदि दिये जाते हैं। मज़दूर ख़ुद ही मुँह पर कपड़ा लपेटकर काम करते हैं। मज़दूरों को ई.एस.आई., पीएफ़ जॉब कार्ड आदि कुछ भी नहीं मिलता। कुछ बोलो तो सुपरवाइज़र सीधे धमकाते हैं कि जानते नहीं हो, लेबर मिनिस्टर की फ़ैक्ट्री है! वैसे तो सभी कारख़ाना मालिक श्रम विभाग को अपनी जेब में लेकर घूमते हैं लेकिन जब मामला पूर्व श्रम मंत्री की फ़ैक्ट्री का हो तो उधर भला कौन देखने की जुर्रत करेगा?

● आनन्द, बादली, दिल्ली

हज़ारों कारख़ाने, लाखों मज़दूर, मगर शोषण जारी बदस्तूर

मैं समयपुर औद्यौगिक क्षेत्र की एक कुकर फ़ैक्ट्री में काम करती हूँ। यह बहुत बड़ा रिहायशी इलाका है जिसमें यादवनगर, लिबासपुर, सिरसपुर, राणा पार्क, जीवन पार्क, भगतसिंह पार्क, संजय कालोनी आदि आते हैं। मगर यहाँ पर फैक्ट्रियों की तादाद भी बहुत बड़ी है। इनमें घरों में मशीन लगाकर 4 लोगों से काम कराने वालों से लेकर बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ तक हैं जिनमें कि 400 तक वर्कर काम करते हैं। सब मिलाकर इस इलाके में लगभग 25-30 हजार फ़ैक्ट्री होगी जिनमें ढाई-तीन लाख मज़दूर काम करते होंगे। फैक्ट्रियों की इतनी बड़ी तादाद को देखते हुए अभी दो साल पहले इस इलाके को समयपुर औद्योगिक क्षेत्र घोषित किया गया। यहाँ के तमाम इकाइयों में खुलेआम ग़ैरक़ानूनी तरीक़े से मज़दूरों का शोषण होता है।

लगभग 100 गज के प्लॉट में बनी मेरी फ़ैक्ट्री में चार दीवारों के ऊपर टीन की छत पड़ी है, जिससे सर्दी, गर्मी, बरसात हर मौसम में बुरा हाल रहता है। इसमें कुल 22 लोग काम करते हैं, 4 महिलाएँ, 18 पुरुष। मालिक ने सारा काम ठेकेदार को सौंप रखा है। इसमें अल्मुनियम के सर्किल बने बनाये आते हैं। उनको पहले मशीन से गोल भगौने जैसा बनाते हैं, उसके बाद गोल घूमने वाली मशीन में मुड़ाई करते हैं। उसके बाद सुराख होता है। उसके बाद बफ़िंग के लिए जाते हैं चमकने के लिए। फिर बाहर आकर कूकर के अन्दर सफाई के लिए रेगमाल लगाया जाता है। उसके बार फिर बफ़िंग होती है। फिर रेगमाल लगाकर पेंदी, उसके बाद हैण्डिल लगाते हैं। फिर ढक्कन लगाकर कुकर तैयार हो जाता है। यहाँ रोज़ाना लगभग 500 कुकर तैयार होते हैं। कम्पनी में 15 "हेल्पर" हैं जिनकी तनख्वाह 3500 रुपये है। बाकी 7 लोगों में 2 पीस रेट पर हैं, 3 बफ़ अड्डे पर काम करने वाले और 2 कारीगर। किसी को भी क़ानून के अनुसार वाजिब तनख़्वाह नहीं मिलती।

कुकर की घिसाई (बफ़िंग) के कारण बहुत ज्यादा गर्दा उड़ता है। हमने सुना है कि प्रदूषण वाली फैक्ट्री में हर मज़दूर को रोज़ाना 100 ग्राम गुड़ व 250 मिली दूध देने का क़ानून है। मगर यहाँ तो ड्यूटी के समय में किसी को एक कप चाय तक नहीं मिलती। रोज़ कम-से-कम दो घण्टा ओवरटाइम लगाना ज़रूरी है जिसका पैसा सिंगल रेट से ही मिलता है। मैंने पिछले महीने काम छोड़ दिया क्योंकि प्रदूषण बहुत ज़्यादा होता है। मुझे लगातार खाँसी आने लगी थी। 50 से ऊपर की उम्र में मेरे लिए इस तरह का काम करना कठिन हो रहा था। मैंने ठेकेदार से हिसाब करने को कहा तो कहता है कि जो हमें खड़े-खड़े जवाब देता है, उसके लिए यही नियम है कि हिसाब अगले महीने लेना। यानी अपनी महीने भर की मज़दूरी लेने के लिए भी मुझे चक्कर लगाने पड़ेंगे। लेकिन इस इलाक़े में सभी मज़दूरों के साथ ऐसा ही होता है। कोई एकजुट होकर बोलता नहीं है इसलिए मालिकों और ठेकेदारों की मनमानी पर कोई रोक-टोक नहीं है।

● सावित्री देवी, बादली, दिल्ली

पेशागत बीमारियों और इलाज में उपेक्षा की दोहरी मार झेलती हैं स्त्री मज़दूर

आज देश भर में करोड़ों स्त्रियाँ हर तरह के उद्योगों में काम कर रही हैं। पूरे सामाजिक और पारिवारिक ढाँचे की ही तरह उद्योगों में भी स्त्री मज़दूर सबसे निचले पायदान पर हैं। सबसे कम मज़दूरी पर बेहद कठिन, नीरस, कमरतोड़ और थकाऊ काम उनके ज़िम्मे आते है। इसके साथ ही, काम की परिस्थितियों के चलते स्त्री मज़दूर तमाम तरह की पेशागत बीमारियों और स्वास्थ्य समस्याओं की शिकार हो रही हैं। किसी भी मज़दूर बस्ती में कुछ मज़दूरों के घरों में जाने पर इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। और कई सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं की रिपोर्टें इस सच्चाई को आँकड़ों के साथ बयान करती हैं।

इलेक्ट्रानिक सामान, रेडीमेड गारमेण्ट और प्लास्टिक के सामान बनाने वाले उद्योगों में काम कर रही स्त्री मज़दूरों के बीच बड़े पैमाने पर किये गये एक सरकारी सर्वेक्षण के मुताबिक अधिकांश स्त्री मज़दूर पेशे के कारण होने वाली किसी न किसी समस्या से पीड़ित हैं। इनमें लगतार गर्मी, शोर और थरथराहट से भरे माहौल में काम करने के कारण सिरदर्द, तनाव, ब्लड प्रेशर जैसी बीमारियाँ, कई तरह के तीखे केमिकल्स की गैसों, धुएँ और धूल-गर्द के बीच रहने से आँख, नाक, गले के रोग, फेफड़े की बीमारियाँ, घण्टों खड़े रहने के कारण स्थायी थकान और रीढ़ की हड्डी की समस्याएँ शामिल हैं। घण्टों तक खड़े रहने से कई स्त्रियों में बच्चेदानी की बीमारियाँ भी हो जाती हैं।

तीनों ही उद्योगों की स्त्री मज़दूरों में मानसिक तनाव और उससे होने वाली बीमारियाँ पायी गयीं। लगातार एक ही मुद्रा में खड़े या बैठे रहकर 8-10 घण्टे तक एक जैसे काम करते रहने से माँसपेशियों में गम्भीर अन्दरूनी चोटें हो जाती है। इन स्त्री मज़दूरों में सिर दर्द, पीठ व कमर दर्द, खाँसी, टीबी, साँस फूलना, ख़ून की कमी, ब्लडप्रेशर, चमड़ी के रोग, दिल की बीमारियाँ, आँखों में जलन, रोशनी कम होना, पेट की गड़बड़ी, सुनने की शक्ति कम होना आदि समस्याएँ बड़े पैमाने पर पायी गयीं।

राजधानी दिल्ली सहित सारे देश में आजकल धुआँधार निर्माण कार्य चल रहे हैं, जिधर देखो ऊँची-ऊँची दैत्याकार इमारतें खड़ी हो रही हैं। देश के करीब साढ़े तीन करोड़ निर्माण मज़दूरों में लगभग आधी स्त्रियाँ हैं। सभी निर्माण मज़दूर बेहद ख़राब हालात में काम करते हैं लेकिन इनमें भी स्त्री मज़दूरों की स्थिति और भी ख़राब है। एक स्वयंसेवी संस्था की रिपोर्ट के अनुसार निर्माण उद्योग में काम करने वाली स्त्रियाँ गर्दन, रीढ़, पीठ कमर और टाँगों के दर्द से बुरी तरह पीड़ित होती हैं। बोझ उठाने वाली मज़दूरों में लगातार दबाव की वजह से लकवा मार जाने की घटनाएँ भी अकसर होती रहती हैं। निर्माण स्थानों पर उठने वाली धूल-राख- सीमेण्ट आदि के बीच लगातार रहने से सिलिकोसिस और ब्रोंकाइटिस जैसी फेफड़े की बीमरियाँ और त्वचा के रोग आम बात है। निर्माण स्थलों पर छोटी-बड़ी दुर्घटनाएँ तो रोज़ की बात है। सीढ़ियों से फिसलकर गिर जाने, ऊँचाई से गिरने, खोदे जा रहे गड्ढे या दीवार आदि के ढह जाने, क्रेन की चेन टूटने से या अन्य वजहों से गिरे भारी सामान के नीचे दब जाने से मौत या ज़िन्दगी भर के लिए अपंग हो जाने का डर साये की तरह उनका पीछा करता रहता है। निर्माण कम्पनियाँ और ठेकेदार सुरक्षा उपायों पर खर्च करने को फालतू खर्च मानते हैं। आख़िर, जब उन्हें बिना किसी दिक्कत के बेहद कम क़ीमत पर मज़दूर मिलते ही रहते हैं, तो वे सुरक्षा जाल, सुरक्षा पेटी, हेल्मेट, रेलिंग, उपकरणों की नियमित मेनटेनेंस आदि पर पैसे बर्बाद क्यों करें?

दिल्ली के कई इलाक़ों में मसालों की पिसाई और पैकिंग के काम में हज़ारों स्त्रियाँ लगी हुई हैं। इनमें 60-70 से लेकर 100 स्त्रियों तक को काम पर लगाने वाली कम्पनियों से लेकर 4-5 स्त्रियों वाली छोटी-छोटी इकाइयाँ तक शामिल हैं। सुबह से रात तक मसालों की धूल के सम्पर्क में रहने से इन स्त्रियों को आँख, नाक, साँस की समस्याएँ, त्वचा पर जलन व खुजली और एलर्जी जैसी परेशानियाँ होती रहती हैं। लगातार सिरदर्द और हथेलियों पर छाले पड़ना भी सामान्य बात है। नाक और मुँह के रास्ते मसालों की बारीक धूल पेट में जाते रहने से बहुत-सी मज़दूरों को आँतों में जलन या घाव भी हो जाते हैं। अचार उद्योग में काम करने वाली स्त्रियों की भी ऐसी ही समस्याएँ होती हैं। लोगों के खाने में स्वाद भरने वाले मसालों और अचार के पीछे की इस कड़वी हक़ीक़त का पता शायद ही किसी को चलता है।

दिल्ली तथा नोएडा की सूती और ऊनी कपड़े तैयार करने वाली इकाइयों में स्त्री कामगारों के बारे में 2 वर्ष पहले आयी एक रिपोर्ट में बताया गया है कि अन्य समस्याओं के साथ-साथ सूत और ऊन के महीन धागे कारख़ाने के हॉल की हवा में भरे रहते हैं। इसकी वजह से स्त्री मज़दूरों में साँस फूलने और सीने में दर्द की शिकायतें बहुत अधिक पायी जाती हैं। रेडीमेड कपड़ों के कारख़ानों में कपड़े प्रेस करने वाली स्त्रियों में भीषण गर्मी से सिरदर्द, मितली, चक्कर और बेहोशी तक हो जाती है। इसी रिपोर्ट के अनुसार एक बड़ी कम्पनी की क्लिनिक में रोज़ाना लगभग 100 स्त्री मज़दूरों का सिरदर्द, चक्कर, बेहोशी आदि के लिए हलाज करना पड़ता है।

उपरोक्त रिपोर्टों में इस बात के भी ब्योरे हैं कि इन उद्योगों में काम की परिस्थितियाँ ही स्त्री मज़दूरों की इन स्वास्थ्य समस्याओं के लिए ज़िम्मेदार हैं। कहीं भी सुरक्षा और बचाव के उचित इन्तज़ाम नहीं किये जाते हैं। बहुतेरे कारखानों में तो पीने का साफ़ पानी तक नहीं होता। स्त्रियों के लिए अलग शौचालय या तो होते ही नहीं या बेहद गन्दे होते हैं। शौचालय जाने से बचने के लिए बहुतेरी स्त्री मज़दूर दिनभर कुछ खाती-पीती ही नहीं हैं जिसकी वजह से भी उन्हें कई बीमारियाँ हो जाती हैं। बहुत ही कम कारख़ानों में दुर्घटना या बीमारी की हालत में स्त्री मज़दूरों को तुरन्त उपचार मुहैया कराने का इन्तज़ाम है। कहीं-कहीं तो प्राथमिक चिकित्सा तक का इन्तज़ाम नहीं होता। गर्भवती स्त्री मज़दूरों की स्थिति तो और भी ख़राब होती है। सरकारी कर्मचारियों और चन्द बड़ी कम्पनियों की स्थायी कामगारों के लिए तो गर्भावस्था अवकाश का क़ानून लागू है लेकिन करोड़ों असंगठित स्त्री मज़दूर आख़िरी समय तक काम पर जाने के लिए मजबूर हैं। उन्हें न तो कोई छुट्टी मिलती है और न ही गर्भावस्था के लिए किसी तरह का कोई विशेष लाभ दिया जाता है। उल्टे, ज़्यादातर मालिक तो उन्हें काम से ही निकाल देते हैं। परिवार की ग़रीबी और बच्चे के जन्म के लिए कुछ पैसे बचाने के लिए स्त्री मज़दूर अक्सर प्रसव के एक दिन पहले तक काम करती रहती हैं और प्रसव के बाद भी जल्द-से-जल्द वापस काम पर जाने की कोशिश करती हैं। गर्भावस्था के अन्तिम कुछ महीनों में कठिन काम करने के कारण कई स्त्रियों को प्रसव में जटिलताएँ पैदा हो जाती हैं या कभी-कभी गर्भपात भी हो जाता है।

यह पूरी स्थिति तब और भी गम्भीर नज़र आती है जब हम यह देखते है कि इलाज और देखभाल में भी स्त्री मज़दूरों को उपेक्षा और लापरवाही का सामना करना पड़ता है। यह स्थिति कारख़ानों से लेकर घर-परिवार तक होती है। स्त्री मज़दूरों की विशेष ज़रूरतों का ध्यान किसी कारख़ाने में नहीं रखा जाता। उनके लिए अलग साफ-सुथरे शौचालय और काम के बीच में थोड़ा आराम करने की जगहें कहीं नहीं होतीं। अगर किसी कारखाना इलाक़े में कोई क्लिनिक है भी तो वहाँ स्त्री डॉक्टर नहीं होती।

पुरुष वर्चस्ववादी सोच मज़दूरों के बीच भी हावी है जिसका खामियाज़ा भी स्त्रियों को झेलना पड़ता है। बीमार या कमज़ोर या गर्भवती होने पर स्त्रियों को अकसर काम की जगह पर मज़ाक, ताने, डाँट-फटकार या गालियों का सामना करना पड़ता है। घर पर भी अक्सर उन्हें अपने पति या परिवार के पुरुष सदस्यों से मदद या संवेदनशीलता भरा व्यवहार नहीं मिलता। उनके इलाज में अक्सर लापरवाही बरती जाती है और अगर घर में कोई दूसरी स्त्री नहीं है तो उनकी ठीक से देखभाल भी नहीं होती। जो पुरुष ख़ुद बीमार होने पर स्त्री से उम्मीद करता है कि वह उसकी जी-जान से सेवा करे वह स्त्री के बीमार होने पर उसकी देखभाल को बोझ समझता है और अक्सर किसी-न-किसी बहाने उससे भागा रहता है। ऐसे में स्त्री मज़दूर अक्सर अपनी बीमारी को काफी समय तक छिपाती रहती हैं और चुपचाप तकलीफ़ झेलती रहती हैं।

सरकारी-ग़ैरसरकारी रिपोर्टें स्त्री मज़दूरों की हालत की सिर्फ़ एक झलक दिखाती हैं। ज़मीनी तौर पर स्थितियाँ और भी भयंकर हैं। मगर इन स्थितियों को बदलने के लिए इन रिपोर्टों में सुझाये गये उपाय या तो महज़ पैबन्दसाज़ी होते हैं या फिर वे कहीं लागू ही नहीं किये जाते। पेशागत स्वास्थ्य और सुरक्षा के अधिकारों के लिए लड़ना स्त्री मज़दूरों के संघर्ष का एक अहम मुद्दा होगा। बेशक, यह संघर्ष अलग-थलग नहीं, बल्कि व्यापक मज़दूर आबादी के साथ जुड़कर ही चलेगा लेकिन स्त्री मज़दूरों की विशेष समस्याओं को उसमें दरकिनार न कर दिया जाये, इसके लिए स्त्री मज़दूरों को संगठित होकर आवाज़ उठानी होगी।

● कविता

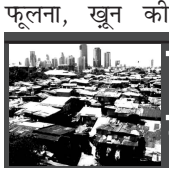

हमारी बस्तियाँ इंसानों के रहने लायक नहीं

आज इस "आज़ाद और महान" भारत देश की एक कड़वी सच्चाई है कि ग़रीबों और मेहनतकशों की बस्तियाँ-कालोनियाँ इंसानों के रहने लायक नहीं हैं। ऐसी ही एक कालोनी हमारी भी है जो लुधियाना के ढण्डारी रेलवे स्टेशन की एक पुरानी, बन्द हो चुकी लाइन के किनारे गन्दे नाले पर बसी हुई है और चारों ओर से कारख़ानों से घिरी हुई है।

कालोनी को बसे हुए लगभग 35 वर्ष हो चुके हैं। लोगों के आधार कार्ड, राशन कार्ड आदि भी बने हुए हैं। वे बिजली आदि के बिल भरते हैं। लेकिन एक रिहायशी इलाक़े की बुनियादी सुविधाएँ यहाँ नदारद हैं। चारों तरफ गन्दगी ही गन्दगी है, बदबू ही बदबू है। गलियों में कूड़ा-कचरा है, मक्खी-मच्छरों का राज है। सीवेज व्यवस्था बस नाम की ही है। नालियाँ भी नहीं बनी हुई हैं। गलियों में, बेहड़ों में, यहाँ तक कि हमारे कमरों में भी आसपास के कारख़ानों से निकलने वाली काली राख छायी रहती है। कालोनी वासियों ने इसी राख से गन्दे नाले को भरा था, और ऊबड़-खाबड़ गलियों को सीधा करने के लिए भी इसे ही बिछाया जाता है।

जब प्रशासन ने कुछ नहीं किया तो कुछ वर्ष पहले लोगों ने आपस में पैसे इकट्ठे करके सीवेज पाइप डलवाया जो हमेशा जाम रहता है। घरों के बाहर खोदे गये गड्ढों जिन्हें इस पाइप के साथ जोड़ा गया था, में से गन्दगी हर सप्ताह निकालनी पड़ती है। कोई उचित व्यवस्था न होने के कारण गन्दगी लोगों को गलियों में ही बहानी पड़ती है। कूड़ा-कचरा उठाने की कोई व्यवस्था भी प्रशासन की ओर से नहीं है। ऐसे में ऊबड़-खाबड़, कूड़े-कीचड़ भरी गलियों से लोगों का गुज़रना तो मुश्किल है ही बल्कि इस गन्दगी भरे, बदबूदार वातावरण में कालोनी के लोग कैसी-कैसी बीमारियाँ ढो रहे हैं इसका अन्दाजा भी नहीं लगाया जा सकता। हर वर्ष हैजा, डेंगू जैसी बीमारियाँ फैलती हैं। कितने ही इन बीमारियों से मर जाते हैं। लोगों की कितनी ही दिहाड़ियाँ टूटती हैं और परेशानियाँ झेलनी पड़ती हैं लेकिन सरकार या प्रशासन को कोई फिक्र नहीं है।

पूरी कालोनी में प्रशासन की ओर से रात के समय रोशनी की कोई व्यवस्था नहीं की गई है। हाँ, कालोनी के ऊपर से हाई वोल्टेज के मोटे तार गुज़रते हैं जिनसे कभी भी दुर्घटना होने का डर बना रहता है। ये तार इतने नीचे हैं कि कई जगह हमारे एकमंज़िला कमरों को भी छूते हैं। पिछले दिनों छत पर सोये हुए दो मज़दूर अँधेरे की वजह से इन तारों के नज़दीक आ गये और दूर तक उछाल दिये गये।

पानी कब आयेगा, कब जायेगा, आयेगा भी या नहीं – कोई पता नहीं। बिजली का भी यही हाल है। कभी वोल्टेज ज़्यादा आता है तो कभी कम। आये दिन हमारे बल्ब और पंखे फुँकते रहते हैं। कई-कई दिनों तक बिजली और पानी नहीं आता। सुबह-शाम कहीं कुछ टोंटियों में पानी आता है - वहाँ लम्बी लाइनें लगी रहती हैं। पैदल और साइकिलों पर पानी ढोते हुए लोगों का रेला कालोनी में लगा रहता है। मज़दूर प्यासे मरें, उनके काम हों या न हों - प्रशासन को इससे कोई वास्ता नहीं। कालोनी में गन्दे पानी की सप्लाई आम बात है। गन्दा पानी पीकर लोग बीमार रहते हैं, पेट खराब रहते हैं। और ऊपर से बिना छुट्टी लिये 10-12 घण्टे कारख़ानों में काम करना पड़ता है।

कालोनी का हरेक निवासी बीमारियों से परेशान है। पास में कोई सरकारी अस्पताल न होने की वजह से निजी डॉक्टरों के पास जाकर जेबें खाली करनी पड़ती हैं। देश का संविधान अगर कहता है कि लोगों की मूलभूत ज़रूरतों को पूरा करना सरकार और प्रशासन की ज़िम्मेदारी है तो हम पूछते हैं कि जो सरकार और प्रशासन इन ज़िम्मेदारियों को नहीं निभाता उन्हें सज़ा क्यों नहीं दी जाती?

सरकार और प्रशासन अमीरों के लिए हर सुख-सुविधा, ऐशो-आराम की व्यवस्था कर सकता है तो हम ग़रीबों की बुनियादी ज़रूरतें भी पूरी क्यों नहीं करता? हमारी मेहनत की कमाई से ही सरकार का ख़ज़ाना भरता है। हम लोग बाज़ार से ख़रीदी हर चीज़ पर सरकार को टैक्स देते हैं। अमीर लोग भी सरकार को जो टैक्स देते हैं वो पैसा भी हमारी मेहनत की लूट से ही जाता है।

– दिव्या, राजीव गाँधी कालोनी, लुधियाना।

कड़वे बादाम : दिल्ली के बादाम उद्योग में मज़दूरों का शोषण

पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (पीयूडीआर) की रिपोर्ट – मई 2012

प्रस्तावना

उत्तर-पूर्वी दिल्ली के दूर-दराज़ कोने में बसी हुई, शोर-गुल और चहल-पहल भरी - करावलनगर की बस्ती, अनौपचारिक क्षेत्र के उद्यमों का एक उभरता हुआ केन्द्र है, जहाँ बड़ी संख्या में प्रवासी मज़दूर और उनके परिवारों को रोज़गार मिलता है। ये उद्यम किसी भी मानक से छोटे नहीं है। वैश्विक संबंधों की जटिलश्रृँखला में बँधे ये उद्यम, सालभर चालू रहते हैं और हज़ारों मज़दूरों के रोज़गार का स्रोत हैं। कई करोड़ रुपयों की आमदनी वाला बादाम उद्योग, इस इलाके में फल-फूल रहा ऐसा ही एक व्यवसाय है, जहाँ कैलिफोर्निया से बोरे के बोरे बादाम आते हैं, करावलनगर की सँकरी-अँधेरी गलियों में पहुँचते हैं और वहाँ छिलका तोड़ने, साफ करने और पुन: पैक किये जाने के बाद घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही बाज़ारों में बिक्री के लिए भेज दिये जाते हैं।

यहाँ के मज़दूरों की बुरी दशा पहली बार तब सामने आयी जब दिसम्बर 2009 में, इस उद्योग में काम करने वाले मज़दूरों ने बेहतर मज़दूरी की माँग के लिए हड़ताल कर दी। उसके बाद के दो वर्षों से भी अधिक समय से पी.यू.डी.आर. ने मज़दूरों के हालात जानने के लिए कई बार अपनी टीमें वहाँ भेजीं, जिन्होंने काम के तौर-तरीकों के दो चरणों के बारे में जाँच की - पहला, जब सारा काम हाथ से होता था और दूसरा चरण, जब काम के एक हिस्से को मशीनीकृत कर दिया गया। इस रिपोर्ट में, जाँच-पड़ताल के दौरान सामने आये तथ्यों को यहाँ प्रस्तुत किया गया है। हमें एहसास है, कि अभी भी बहुत कुछ अनकहा रह गया है। बादाम उद्योग के मज़दूरों के हालात पर केन्द्रित करते हुए, यह रिपोर्ट अनौपचारिक क्षेत्र के रोज़गार के अत्यन्त शोषक और जोखिमपूर्ण चरित्र को भी उजागर करना चाहती है; वह क्षेत्र जिसमें आज देश की कुल कार्य शक्ति का लगभग 94 प्रतिशत हिस्सा लगा हुआ है।

बादाम प्रसंस्करण कार्य का चरित्र

पूर्वी दिल्ली के करावलनगर में बादाम तोड़ने और पैक करने की लगभग 45-50 इकाइयाँ हैं जहाँ पूरे साल काम होता है और जहाँ से बादाम खारी बावली में स्थित सूखे मेवे और मसालों के थोक बाज़ार में पहुँचते हैं। विदेशों से बादाम की खेप जहाज़ों में भरकर अहमदाबाद और मुम्बई पहुँचती है जहाँ से इसे दिल्ली पहुँचाया जाता है। बादाम दुनियाभर में एक काफ़ी कीमती उत्पाद है। हाल के समय में 'स्वास्थ्य' को लेकर बढ़ी हुए चेतना और बादाम के स्वास्थ्यवर्धक गुणों की लोकप्रियता के कारण पूरी दुनिया में इसकी माँग तेज़ी से बढ़ी है। मध्यवर्ग के आकार और समृद्धि दोनों में वृद्धि होने के साथ भारत में भी यही प्रवृति दिखाई दे रही है, जिसने बादाम के व्यापार और आयात को, खासकर संयुक्त राज्य अमेरिका से, बहुत अधिक तेज़ी दी है। भारत में अमेरिका से खोल-युक्त बादाम के आयात में आयी तेज़ी केवल बादाम के बढ़ते उपभोग का ही नतीजा नहीं है। भारत, और मुख्यत: दिल्ली सस्ते श्रम की उपलब्धता के कारण बादाम के छिलके उतारने और प्रसंस्करण के मुख्य केन्द्र के रूप में स्थापित हुए हैं। खोल रहित और प्रसंस्कृत बादाम को पैकिंग और बिक्री के लिए विश्व के अलग-अलग हिस्सों में पुन: निर्यात कर दिया जाता है। 2007 और 2009 के बीच स्पेन और जर्मनी को पीछे छोड़ते हुए भारत अमेरिकी बादाम का दुनिया का सबसे बड़ा आयातक बन गया। आयातित बादाम का लगभग 80 प्रतिशत दिल्ली के खारी बावली के बाज़ार में पहुँचता है। 2007-08 वर्ष के लिए कैलिफोर्निया की बादाम काउंसिल द्वारा प्रकाशित एलमंड इंडस्ट्री पोज़ीशन रिपोर्ट के अनुसार भारत 12. 86 प्रतिशत हिस्से के साथ अमेरिका से बादाम के आयात में विश्व में दूसरे स्थान पर पहुँच गया था।

खारी बावली के थोक व्यापारी बादाम के छिलके उतारने, सफाई, ग्रेडिंग और पैकिंग का काम ठेके पर कराते हैं। हालाँकि बादाम तोड़ने और प्रसंस्करण का लगभग 80 प्रतिशत काम करावलनगर में ही किया जाता है, मगर लक्ष्मीनगर, बुराड़ी, पटपड़गंज और त्रिलोकपुरी में भी यह कारोबार होता है। शुरुआत में यह काम कमोबेश पीस रेट पर घर-आधारित उत्पादन के रूप में होता था। लेकिन जैसे-जैसे बादाम व्यापार का विस्तार हुआ, घर पर होने वाला यह काम वर्कशॉप और गोदामों में भी होने लगा। करावलनगर की अधिकाँश इकाइयाँ अब गोदामों से ही संचलित की जाती हैं और मज़दूरों को भुगतान पीस रेट और फिक्स रेट दोनों ही रूपों में होता है।

कार्य और श्रम शक्ति

करावलनगर इलाके में कार्यरत बादाम मज़दूर यूनियन के अनुसार इलाके में बादाम से छिलका उतारने और प्रसंस्करण में 20,000 से भी अधिक मज़दूर काम करते हैं। इनमें से अधिकाँश मज़दूर बिहार से आये प्रवासी हैं और कुछ पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड से। इनमें से अधिकाँश महिलाएँ हैं। मज़दूरों को ठेकेदारों के माध्यम से काम मिलता है। वैसे तो बादाम प्रसंस्करण बारहमासी उद्योग है लेकिन दिवाली से लेकर क्रिसमस तक अर्थात अक्टूबर से दिसम्बर के दौरान, माँग और आपूर्ति दोनों ही अपने चरम पर होती हैं। इस दौरान रोज़ाना औसतन 12-15 घण्टे काम होता है। उत्पादन की पूरी प्रक्रिया में खोल को तोड़ना, खोल में से बादाम के दाने निकालना, ग्रेडिंग और पैकिंग शामिल होते हैं। छोटे-छोटे बच्चों को खोल-युक्त बादाम को तोड़ने के लिए बादाम के ढेर पर कूदते हुए देखा जा सकता है। यही नहीं बादाम को खोल से निकालने में भी इनको काम पर लगाया जाता है। छिलका सहित बादाम के एक बोरे में औसतन लगभग 22 किलो बादाम होता है जिसमें से लगभग 16-17 किलो छिला हुआ बादाम निकलता है। छिलके को ठेकेदारों द्वारा हरियाणा के ईंट-भट्ठों को 1 से 1.40 रुपये प्रति किलो की कीमत पर बेचा जाता है। इसके अलावा इसका कुछ हिस्सा बादाम मालिकों द्वारा मज़दूरों को सामान्यत: 30-35 रुपये प्रति कट्टे के भाव पर बेचा जाता है, जिसे मज़दूर ईंधन के रूप में इस्तेमाल करते हैं। बादाम को बाज़ार में, गुणवत्तानुसार, 360-400 रुपये प्रति किलो के हिसाब से बेचा जाता है लेकिन इसके प्रसंस्करण में लगे मज़दूरों को उनके काम के बदले इसका बहुत नगण्य हिस्सा मिलता है।

2010 के अन्त में, जब से इस काम में मशीनों का इस्तेमाल किया जाने लगा, काम का चरित्र काफी हद तक बदल गया। मशीन का इस्तेमाल केवल बादाम तोड़ने में होता है, छिलके हटाने और ग्रेडिंग का काम अभी हाथों से ही किया जा रहा है। आंशिक मशीनीकरण का यह दौर कैलिफोर्निया के बादामों के भारत में लगातार तेज़ी से बढ़ते आयात से मेल खाता है। मशीनीकरण अपने साथ मज़दूरी सम्बन्धी कई नयी समस्याएँ लेकर आया है, और जैसा कि हम आगे देखेंगे, इसने रोज़गार की उपलब्धता को भी कम किया है।

मज़दूरी

पिछले दो सालों के दौरान आंशिक मशीनीकरण के कारण मज़दूरी के भुगतान के तरीकों में बदलाव आया है। दिसम्बर 2009 से पहले 22 किलो बादाम के प्रसंस्करण के लिए मज़दूरों को 40 रुपये दिये जाते थे। मज़दूर की कुशलता और क्षमता के अनुसार, एक कट्टा बादाम के प्रसंस्करण में लगभग 8 से 10 घण्टे का वक्त लगता था। जिसका मतलब था कि मज़दूरों को दिल्ली में 8 घण्टे काम के लिए अकुशल मज़दूरों के लिए निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी, 152 रुपये (दिसम्बर 2009 में), का लगभग एक तिहाई भुगतान किया जाता था।

दिसम्बर 2009 में बादाम मज़दूर यूनियन के बैनर तले हुई बादाम मज़दूरों की 15 दिनों की हड़ताल के बाद मज़दूरी की दर 40 रुपये से बढ़ कर 60 रुपये हो गयी, लेकिन यह अब भी न्यूनतम मज़दूरी की एक तिहाई ही थी। बादाम प्रोसेसिंग की एक विशेषता यह है कि अक्सर यह काम मज़दूर के परिवार के सदस्यों द्वारा मिलकर किया जाता है। ऐसा केवल घरेलू इकाइयों में ही नहीं होता बल्कि गोदामों में भी या तो परिवार के सदस्य मिल कर काम करते हैं या फिर गाँवों के आधार पर या किन्हीं अन्य सम्बन्धों के आधार पर कई मज़दूर समूहों में मिलकर काम करते हैं। इसलिए अगर कोई परिवार एक दिन में 3 कट्टे बादाम तैयार कर सकता है तो वह 180 रुपये कमा लेगा। लेकिन इतनी रकम कमाने के लिए परिवार के 2-3 सदस्यों को घण्टों तक मिलकर काम करना पड़ता है और इस तरह से एक अकेला व्यक्ति 60 से लेकर 90 रुपये से अधिक नहीं कमा सकता।

मज़दूरी का भुगतान भी अनिश्चित होता है और इस तरह से यह भी शोषण का ज़रिया बन जाता है। मालिक के अपने रिकार्ड के अलावा मज़दूरों को किये जाने वाले भुगतान का कोई और रिकार्ड नहीं रखा जाता है, इसलिए मज़दूरी भुगतान की कोई पारदर्शी व्यवस्था व्यवहार में काम नहीं करती। मज़दूरी के भुगतान की कोई निश्चित तारीख़ भी नहीं है। इसके साथ ही भुगतान में अक्सर काफ़ी देरी होती रहती है। ऐसे भी केस हैं जिनमें मज़दूरों को उनके बकाये का भुगतान ही नहीं किया गया। किसी भी प्रकार के रोज़गार प्रमाण के अभाव में यानी मज़दूरी का पक्का रिकार्ड न होने के कारण, मज़दूर अपनी बकाया मज़दूरी के लिए कोई दावा भी नहीं कर सकते।

2010 से बादाम के खोल तोड़ने के काम के मशीनीकरण के साथ ही, मज़दूरों की दशा और अधिक बदतर हो गयी है। जैसा कि पहले बताया गया है, ठेकेदारों द्वारा लगायी गयी मशीनों से खोल तोड़ने का काम काफी तेज़ी से हो जाता है लेकिन बादाम और छिलके को अलग-अलग करने का काम अभी हाथों से ही किया जाता है।

मशीनीकरण के बाद, मज़दूरी के भुगतान में अनिश्चितता में कोई फ़र्क नहीं आया, पर मज़दूरी का मामला और अधिक उलझा हुआ और अनिश्चित हो गया। मशीनीकरण से बादाम को तोड़ने के काम की दक्षता में तो निस्संदेह रूप में ठेकेदारों के मनमाफ़िक वृद्धि हुई, लेकिन मज़दूरों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। जून 2011 में पी.यू.डी.आर. की टीम करावलनगर में कई मज़दूरों से मिली। ये मज़दूर अपने भविष्य को लेकर काफी चिन्तित थे। वे इस बात से आशंकित थे कि मशीनों के आ जाने से उनकी मज़दूरी पहले के मुकाबले आधी ही रह जायेगी। एक मालिक ने हमें बताया कि एक मशीन से एक घण्टे में लगभग 20 कट्टा बादाम तोड़े जा सकते हैं। कम काम के सीज़न में, पहले जहाँ एक दिन में केवल 80-100 कट्टों की सफाई हो पाती थी, मशीनीकरण के बाद इनकी संख्या सीधे-सीधे 350-400 कट्टे प्रति दिन तक बढ़ गयी। मशीनीकरण के कारण काम की दर में तेज़ी आने से और मज़दूरों की आवश्यकता में कमी आने से, मज़दूरों को इन उत्पादन इकाइयों में काम मिलने में दिक्कत आने लगी है।

मशीनीकरण के बाद मज़दूरी के सन्दर्भ में, मज़दूरों को भुगतान की प्रणाली के आधार पर तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी उन लोगों की है जिनको ठेकेदारों ने काम की प्रगति और गति पर नज़र रखने और काम के दौरान मज़दूरों द्वारा बादाम चुराने की सम्भावना को कम या खत्म करने के लिए मज़दूरों पर नज़र रखने के लिए रखा है। ये लोग संख्या में बहुत कम हैं और मासिक वेतन पर रखे जाते हैं। हमने दइकाइयों में काम करने वाले बच्चों को काम ख़त्म करके जाने से पहले अपनी तलाशी कराने के लिए ख़ुद इनके पास आते देखा। दूसरी तरफ बादाम प्रसंस्करण का काम दो भागों में बँट गया है। कुछ मज़दूर केवल बादाम को मशीन में डालने का काम करते हैं, जबकि अन्य सफाई और तैयारी का। मशीनों से बादाम तोड़ने का काम पूरी तरह से पुरुष मज़दूरों के लिए आरक्षित है। बादाम तोड़ने के लिए प्रति कट्टा 5 रुपये मिलते हैं। दूसरी ओर सफाई और तैयारी का काम 1 रुपये प्रति कट्टे के पीस रेट पर औरतों और बच्चों द्वारा कराया जाता है। मशीन से एक कट्टा बादाम तोड़ने में बस कुछ मिनटों का ही

(पेज 6 पर जारी)

मज़दूरी की तुलना में बादाम प्रसंस्करण की लागत

उत्पादन की लगात की आसान गणना यह बताती है कि मशीनीकरण के पहले बादाम के प्रत्येक कट्टे के प्रसंस्करण के लिए ठेकेदार को 60 रुपये खर्च करने पड़ते थे। लेकिन अब खोल हटाने और प्रसंस्करण की लागत नीचे चली गयी है। ठेकेदार बादाम के प्रत्येक कट्टे के प्रसंस्करण के लिए 25-30 रुपये खर्च करते हैं - 5 रुपये प्रति कट्टा खोल तोड़ने का, 16-17 रुपये सफाई और पैकिंग तथा अन्य खर्चों के लिए। ऊपर से मशीनीकरण के कारण काम की बढ़ी हुई दर, ठेकेदारों के लिए अतिरिक्त मुनाफा पैदा करती है। पहले प्रति कट्टा खोल तोड़ने और प्रसंस्करण में 8-10 घण्टे लगते थे। मशीनीकरण के साथ उतना ही काम बहुत तेज़ी से हो जाता है।

कड़वे बादाम : दिल्ली के बादाम उद्योग में मज़दूरों का शोषण

(पेज 5 से आगे)

समय लगता है। इस प्रकार एक पुरुष अपने साथ काम करने वाली स्त्रियों की तुलना में बराबर समय में ज़्यादा मज़दूरी पा रहे हैं। इस तरह से काम का यह विभाजन पुरातन लिंग आधारित भेदभावपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को मज़बूत करने का एक और रूप है। यह स्पष्ट है कि मशीनीकरण के बाद स्त्री मज़दूरों की मज़दूरी में गिरावट आयी है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पुरुष मज़दूरों की दशा में थोड़ा सुधार तो ज़रूर आया है, लेकिन अभी भी उनको मिल रही मज़दूरी अकुशल मज़दूर के लिए निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी के बराबर नहीं है।

काम करने की स्थितियाँ

बादाम से छिलका उतारने का काम बेहद कठिन और जोखिमभरा होता है। बादाम निकालने के लिए जो खोल तोड़ा जाता है वह काफी सख्त होता है और उसे नरम बनाने के लिए रसायनों का प्रयोग किया जाता है। यह पूरा काम नंगे हाथों से किया जाता है और लम्बे समय तक काम करने से लगभग सभी मज़दूरों की उँगलियों के पोरों पर घाव हो जाते हैं और दरारें पड़ जाती हैं जिनमें सर्दियों में बहुत अधिक दर्द होता है। ये घाव खोल के खुरदुरेपन और/या रसायनों के प्रभाव, दोनों ही वजहों से हो सकते हैं। हड़ताल के दौरान भी हम जितने मज़दूरों से मिले, उनमें से अधिकांश के हाथों और उँगलियों में घाव के निशान थे। उनके हाथों में ये घाव बादाम तोड़ते समय पड़े थे। ये मज़दूर लगभग एक हफ्ते से काम पर नहीं गये थे फिर भी उनके ये घाव बहुत पीड़ादायी बने हुए थे।

दूसरी बात, बादाम की सफ़ाई के दौरान काफी धूल उत्पन्न होती है और इससे बचने के लिए मज़दूरों के पास केवल एक छोटा-सा कपड़े का टुकड़ा होता है। इस धूल से कई तरह की साँस की परेशानियाँ हो सकती हैं। इस बात की पुष्टि पास में रह रहे एक डाक्टर ने भी कर दी और उनके क्लिनिक में मौजूद नेबूलाइज़र ने भी। डाक्टर ने हमें बताया कि मरीजों के मुँह और नाक से अक्सर खून के थक्के निकलते रहते हैं। उन्होंने यह भी बताया कि मुख्य रूप से ठेकेदारों द्वारा निश्चित समय पर भुगतान न करने की वजह से मज़दूरों को कई अन्य बीमारियों जैसे मियादी बुखार और हैजा आदि का इलाज टालते रहना पड़ता है या बीच में ही छोड़ना पड़ता है। मशीनीकरण ने इस समस्या को और विकट कर दिया है। जिन कमरों में मशीनें हैं वहाँ कई-कई इंच मोटी धूल की परत जमी रहती है। रिहायशी इलाकों में पीने योग्य पानी और जल निकासी जैसी बुनियादी नागरिक सुविधाओं का अभाव भी स्वास्थ्य सम्बन्धी परेशानियों को और अधिक बढ़ा देता है।

चूंकि यह भी साबित नहीं किया जा सकता कि मज़दूर किस ठेकेदार के तहत काम करते हैं, इसलिए मज़दूरों के स्वास्थ्य के सन्दर्भ में उनकी कोई जवाबदेही तय करने का तो सवाल ही नहीं उठता, चाहे वह उपचार उपलब्ध कराने का मामला हो या रहने की सुविधाएँ मुहैया कराने का। एक तरफ तो खुद ठेकेदार द्वारा देरी से मज़दूरी का भुगतान मज़दूरों के लिए समय से इलाज कराना असम्भव बना देता है तो दूसरी तरफ अचानक बीमारी सम्बन्धी आपातस्थिति होने पर ठेकेदारों से कोई वित्तीय या किसी भी अन्य तरह की सहायता की उम्मीद नहीं की जा सकती।

बादाम प्रसंस्करण और राज्य

जैसा कि ऊपर बताया चुका है कि बादाम परिशोधन इकाइयों में हज़ारों की संख्या में मज़दूर काम करते हैं और काम पूरे साल चालू रहता है। इस तरह इस काम का चरित्र तो स्थायी श्रेणी का है लेकिन मज़दूरों को अनियमित आधार पर अनौपचारिक रूप से खटाया जाता है। उन्हें किसी भी प्रकार का रोज़गार का प्रमाण, जैसे पहचान पत्र, वेतन स्लिप आदि नहीं दिया जाता है, कोई हाज़िरी रजिस्टर भी नहीं रखा जाता है।

इसीलिए, इतने बड़े स्तर पर उत्पादन होने के बाद भी मज़दूरों की काम की परिस्थितियों पर निगरानी रखने के लिए कोई व्यवस्था मौजूद नहीं है। यह एक मज़ाक ही है कि क़ानूनी रूप से ये ठेकेदार श्रम क़ानूनों के पालन के लिए बाध्य ही नहीं हैं, और मज़दूरों की शिकायतों की सुनवाई के लिए कोई प्रक्रिया मौजूद ही नहीं है। इस काम को एक 'उद्योग' के रूप में मान्यता नहीं मिली हुई है। उल्टे अस्पष्ट रूप से परिभाषित 'घरेलू उत्पादन' श्रेणी के अन्तर्गत आने के कारण ये इकाइयाँ वर्तमान श्रम क़ानूनों के दायरे से बाहर रहती हैं। दिल्ली के श्रम विभाग के अनुसार, काम करने के अपने स्तर के कारण ये इकाइयाँ 'संगठित क्षेत्र' की परिभाषा से बाहर रह जाती हैं। किसी उत्पादन इकाई को बिजली के साथ 10 मज़दूरों के काम करने या बिजली के बिना 20 मज़दूरों के काम करने पर ही संगठित क्षेत्र के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस तर्क से तेज़ी से फैलता अनौपचारिक क्षेत्र, जिसमें कि आज देश की कुल कार्य शक्ति का 94 फ़ीसदी काम करता है, श्रम क़ानूनी के अधिकार क्षेत्र के बाहर हो जाता है। करावलनगर और आस-पास के इलाकों में कुकुरमुत्तों की तरह बढ़ती इन इकाइयों को फैक्टरियों के रूप में मान्यता न दिये जाने से सीधे-सीधे मज़दूरी, ओवर-टाइम आदि मसलों पर मालिकों के मुकाबले मज़दूरों की मोलभाव की क्षमता नगण्य हो जाती है।

नौकरशाही की मिलीभगत भी काफी स्पष्ट है क्योंकि श्रम विभाग या तो यह सब कुछ देखकर उदासीन बना रहता है या उसकी सक्रिय साँठगाँठ रहती है। हालाँकि कहने को तो श्रम विभाग मज़दूरों की भलाई के लिए बनाया गया है। बादाम मज़दूर यूनियन ने पहले भी एक बार क़ानूनी रूप से न्यूनतम मज़दूरी सम्बन्धी शिकायत के साथ श्रम विभाग का दरवाज़ा खटखटाया था। लेकिन लेबर कमिश्नर और उनके कार्यालय ने यह कहकर हस्तक्षेप करने से कन्नी काट ली कि यह घरेलू काम है और इसलिए क़ानूनी दायरे के बाहर है। बादाम मज़दूरों की दुर्दशा की तरफ श्रम विभाग का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से पी.यू.डी.आर. ने भी 30 दिसम्बर 2009 और 11 जनवरी 2010 को पत्र लिखकर इस मामले में हस्तक्षेप करने और दिल्ली सरकार से बादाम प्रसंस्करण इकाइयों को उचित संशोधन द्वारा अनुसूचित उद्योगों के अन्तर्गत लाने का अनुरोध किया, ताकि यहाँ फैक्टरी ऐक्ट 1948 और न्यूनतम मज़दूरी क़ानून 1948 लागू हो सकें। इसके बाद, डिप्टी लेबर कमिश्नर (डी.एल.सी.), पूर्वी और उत्तर-पूर्वी दिल्ली, की ओर से पी.यू.डी.आर. को मिलने के लिए बुलाया गया। इस बैठक में डी.एल.सी. ने हमें ठेकेदारों के नाम, शिकायत करने वाले मज़दूरों के नाम और यूनियन का नाम और रजिस्ट्रेशन नम्बर बताने के लिए कहा गया। यह पूरी तरह से गोल-गोल घुमाने वाला तर्क है। किसी अनौपचारिक या कैजुअल श्रम प्रक्रिया की सबसे मुख्य दिक्कत नियोक्ता और कर्मचारी की पहचान स्थापित करने की होती है। यूनियन के रजिस्ट्रेशन नम्बर की माँग भी अत्यन्त हास्यास्पद है क्योंकि यूनियन का रजिस्ट्रेशन तो तब तक नहीं हो सकता जब तक कि व्यवसाय को ही मान्यता न मिल जाये। डी.एल.सी. का कहना था कि इस मामले में वह हमारी कोई मदद नहीं कर सकते क्योंकि व्यवसाय को औपचारिक की श्रेणी में लाना उनके अधिकार क्षेत्र के बाहर है और उन्होंने मामले को बन्द करने की माँग की। इन यूनिटों में सैकड़ों की तादाद में मज़दूर काम करते हैं और इस तरह ये आसानी से फैक्टरी ऐक्ट की परिभाषा के अनुसार फैक्टरी की श्रेणी में आ सकती हैं। यानी फैक्टरी ऐक्ट में पर्याप्त गुंजाइश मौजूद होने पर भी श्रम विभाग की नौकरशाही और राजनीतिक प्रतिष्ठानों, दोनों ही ने इन अनौपचारिक व्यवसायों को मान्यता देने के लिए, ताकि इनमें श्रम कानून लागू हो सकें, बहुत ही कम कदम उठाये हैं (देखें बॉक्स - फैक्टरी ऐक्ट)।

बादाम मज़दूरों के दो साल के संघर्ष की कहानी : 2009-2011

दिसम्बर 2009 में बादाम मज़दूर यूनियन के बैनर तले मज़दूरों ने मज़दूरी में बढ़ोत्तरी और काम की बेहतर परिस्थितियों के लिए दो हफ़्ते लम्बी हड़ताल की। हड़ताल 16 दिसम्बर से 31 दिसम्बर 2009 तक चली। 23 दिसम्बर को लगभग 1500 मज़दूरों ने उद्योग के विनियमन और काम के बेहतर हालात के लिए जन्तर-मन्तर पर प्रदर्शन किया।

हड़ताल के दौरान, मज़दूर करावलनगर में सड़क के किनारे खाली पड़ी ज़मीन पर अपना टेण्ट लगाकर धरना-प्रदर्शन करते रहे। मज़दूरों द्वारा अपनी आजीविका को दाँव पर लगाकर की गयी 15 दिनों की यह हड़ताल, मज़दूरों के साहस के कारण एक मिसाल बन गयी। इसने पुलिस के स्पष्टत: पक्षपातपूर्ण और संवेदनहीन रवैये को भी उघाड़कर रख दिया। हड़ताल के दूसरे दिन ठेकेदारों ने अपने वफ़ादार समर्थकों के साथ मिलकर महिलाओं के एक शान्तिपूर्ण जुलूस, जिसमें उनके बच्चे भी साथ थे, पर हमला बोल दिया। जुलूस का नेतृत्व यूनियन के कुछ सदस्यों द्वारा किया जा रहा था। इस हमले में यूनियन के दो सदस्य गम्भीर रूप से घायल हो गये जबकि कुछ स्त्री मज़दूरों को हल्की चोटें आयीं। झड़प के दौरान हुई बहस में ठेकेदार, विशेष रूप से स्त्रियों को लक्षित करते हुए, जातिवादी गाली-गलौच और मज़दूरों को नीचा दिखाने के लिए घिनौनी भाषा के इस्तेमाल पर उतर आये। इसके बाद हुए हंगामे में ठेकेदारों के चार गुण्डों को चोट लगी। जब पुलिस पहुँची तो उसने ठेकेदार के घायल गुण्डों को तो मेडिकल के लिए अस्पताल भेज दिया, जबकि यूनियन के घायल सदस्यों व कुछ अन्य हड़ताली मज़दूरों को बिना कोई मेडिकल सहायता उपलब्ध कराये गिरफ्तार कर लिया। ठेकेदारों के गुण्डों के कहने पर यूनियन के सदस्यों के ख़िलाफ़ एफ.आई.आर. भी दर्ज कर दी गयी, लेकिन मज़दूरों और यूनियन सदस्यों के बयान पर ठेकेदारों और उनके आदमियों पर कोई केस दर्ज नहीं किया गया। परिणामस्वरूप ठेकेदारों के जिन लोगों को पकड़ा गया था उन्हें उसी दिन कुछ समय बाद छोड़ दिया गया, लेकिन यूनियन कार्यकर्त्ताओं को अगले दिन मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया और उसके भी अगले दिन जेल से छोड़ा गया।

पुलिस और मालिकों की साँठगाँठ का यह अकेला मामला नहीं है। हड़ताल के दौरान पुलिस लगातार मज़दूरों को धमकाती रही, और यह कहकर कि हड़ताल से क़ानून और व्यवस्था की समस्या खड़ी हो सकती है, हड़ताल ख़त्म करने के लिए उन पर दबाव डालती रही। 25 दिसम्बर 2009 को पुलिस ने मज़दूरों को अपना टेंट हटाने के लिए मजबूर किया और धरने वाली ज़मीन के मालिक पर अपनी ज़मीन खाली कराने के लिए दबाव डाला। फलस्वरूप मज़दूरों को दिसम्बर की सर्द रातों में खुले आसमान के नीचे सड़क पर बैठकर अपने विरोध प्रदर्शन को जारी रखने के लिए मजबूर होना पड़ा। पिछले दो साल में यूनियन ने अपनी सदस्यता का विस्तार किया है और करावलनगर इलाके में स्थित अनौपचारिक क्षेत्र के अन्य उद्यमों, जैसे पेपर प्लेट उत्पादन में लगे मज़दूरों को भी यूनियन में शामिल किया है। करावलनगर मज़दूर यूनियन के नये नाम से काम करते हुए यूनियन इलाके की इन इकाइयों में काम करने वाले मज़दूरों के मुद्दों और सरोकारों को लेकर सक्रिय है।

निष्कर्ष

भूमण्डलीकरण और कई राष्ट्रीय सीमाओं में फैले उत्पादन के नये तरीके के साथ, विकसित और विकासशील दोनों ही प्रकार के देशों में श्रम शक्ति का अनौपचारिकीकरण तेजी से एक सामान्य प्रवृत्ति बनता जा रहा है। 1990-2005 के दौरान भारत में रोज़गार वृद्धि के आँकड़े अर्थव्यवस्था के अनौपचारिक और असंगठित क्षेत्र में कार्यरत श्रमिकों की संख्या में हुई रिकार्ड वृद्धि को दर्शाते हैं। इसके बावजूद इस बेहद विषम क्षेत्र को श्रम कानूनों के दायरे में लाने के लिए उठाये गये कदम पूरी तरह निराशाजनक हैं। पिछले संघर्ष से पहले भी बादाम प्रसंस्करण उद्योग में काम करने वाले मज़दूरों द्वारा खुद को संगठित करने के प्रयास तालाबन्दी और स्थानान्तरण के रूप में समाप्त

(पेज 12 पर जारी)

फ़ैक्ट्री ऐक्ट क्या कहता है?

[अध्याय 1, खण्ड 2 (एम)]

"कारखाना" का अर्थ है ऐसा परिसर, उसके आस-पड़ोस को शामिल करके-

(i) जहाँ 10 या ज़्यादा मज़दूर काम कर रहे हैं, या पूर्ववर्ती बारह महीनों के किसी भी दिन काम कर रहे थे, और जिसके किसी भी हिस्से में बिजली की सहायता से उत्पादन प्रक्रिया चलायी जा रही हो, या सामान्य रूप से चलायी जाती है, या

(ii) जहाँ 20 या अधिक मज़दूर काम कर रहे हों, या पूर्ववर्ती बारह महीनों के किसी भी दिन काम कर रहे थे, और जिसके किसी भी हिस्से में बिजली की सहायता के बिना उत्पादन प्रक्रिया चलायी जा रही हो, या सामान्य रूप से चलायी जाती है.

[अध्याय 9 - विशेष प्रावधान]

ऐक्ट को किसी ख़ास परिसर में लागू करने के अधिकार। (1) राज्य सरकार, सरकारी राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, यह घोषित कर सकती है कि इस ऐक्ट के सभी या कोई प्रावधान उस जगह पर लागू होंगे जहाँ उत्पादन प्रक्रिया बिजली से या बिना बिजली के चलायी जा रही हो या चलायी गयी हो, इसके बावजूद कि-

(i) उसमें काम पर लगे व्यक्तियों की संख्या 10 से कम हो, यदि बिजली की सहायता से उत्पादन होता है, और 20 से कम यदि बिजली की सहायता के बिना उत्पादन होता हो, या

(ii) उसमें काम करने वाले व्यक्ति उसके मालिक द्वारा न नियुक्त किये गये हों लेकिन ऐसे मालिक की आज्ञा या सहमति पर काम कर रहे हों।

मौत के मुहाने पर: अलंग के जहाज़ तोड़ने वाले मज़दूर

पूँजीवादी विकास की रथयात्रा मज़दूरों का जीवन कुचलते हुए ही आगे बढ़ती है। मज़दूरों के ख़ून-पसीने की एक-एक बूँद निचोड़कर भी पूँजीपतियों की मुनाफ़े की प्यास नहीं बुझती। गुजरात के भावनगर ज़िले में स्थित अलंग-सोसिया शिप-ब्रेकिंग यार्ड (ए.एस.एस.बी.वाई.) विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के इस अमानवीय चरित्र का जीता-जागता उदाहरण है।

अलंग एशिया का सबसे बड़ा यार्ड है जहाँ इस्तेमाल से बाहर हो चुके समुद्री जहाज़ों को तोड़ा जाता है यानी इन जहाज़ों में लगे स्टील, प्लास्टिक, अन्य धातुओं आदि को दुबारा इस्तेमाल के लिए अलग-अलग किया जाता है। यह यार्ड अलंग और सोसिया गाँवों के समुद्री किनारों पर 10 कि.मी. तक फैला हुआ है जहाँ जहाज़ों को तोड़ने के लगभग 180 प्लॉट हैं। इस पूरे यार्ड में लगभग 40,000 मज़दूर काम करते हैं जो ज़्यादातर उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा आदि राज्यों से आकर यहाँ काम कर रहे हैं । यहाँ रोज़ लगभग 10 हज़ार टन माल जहाज़ों में से निकाला जाता है। इसमें 95 प्रतिशत तो ऊँची गुणवत्ता का स्टील होता है। बाकी 5 प्रतिशत कबाड़ माल में अन्य धातुओं से बने हिस्से, पेंट और कोटिंगें, इन्सुलेशन और सीलिंग सामग्री, बिजली के तार, केबिनों की दीवारों में लगा माल, सजावटी माल, फर्श की कवरिंग आदि होता है। जहाज़ में ऐसी भी बहुत सारी चीज़ें होती हैं जो घरों आदि में इस्तेमाल हो सकती है जिन्हें बाज़ार में बेच दिया जाता है। लेकिन मुख्य मकसद बढ़िया क्वालिटी का स्टील प्राप्त करना होता है जिससे भारत के उद्योगों की 10 से 15 प्रतिशत स्टील की ज़रूरत पूरी होती है। यहाँ से देश की 120 रोलिंग मिलों में स्टील जाता है। यहाँ से एक्साइज़ और कस्टम ड्यूटी के तौर पर सालाना 600 करोड़ रुपये सरकारी ख़ज़ाने में जाते हैं। यानि इस पूरे कारोबार से जहाज़ तुड़वाने वाले ठेकेदार, पूँजीपति, स्टील कम्पनियाँ और सरकार सालाना ख़ूब कमाते हैं लेकिन इसके मज़दूरों और अलंग-सोसिया क्षेत्र के निवासियों को जो लूट और मुसीबतें झेलनी पड़ रही हैं उन्हें शब्दों में पूरी तरह ब्यान कर पाना सम्भव नहीं है।

जब समुद्री जहाज इस्तेमाल करने लायक नहीं रह जाते तब जर्मनी, इंग्लैण्ड, या अमेरिका के एजेण्ट इन्हें ख़रीदकर भारत भेज देते हैं। समुद्री जहाज़ों में विस्फोटक पदार्थ, सेहत के लिए ख़तरनाक रासायनिक पदार्थ आदि बड़ी मात्रा में होते हैं। इनकी वजह से जानलेवा हादसे तो होते ही हैं बल्कि मज़दूरों और इलाके के लोगों को स्वास्थ्य सम्बन्धी भयानक नुकसान झेलने पड़ रहे हैं। 1970 के दशक में जहाज़ तोड़ने की प्रक्रिया ऊँची तकनीक के ज़रिये मुख्यत: ब्रिटेन, ताइवान, स्पेन, मेक्सिको और ब्राज़ील में निपटायी जाती थी। 1980 के बाद यह उद्योग एशिया के ग़रीब देशों में स्थानान्तरित किया जाने लगा जहाँ बहुत कम क़ीमत पर काम करने वाले मज़दूर आसानी से उपलब्ध थे। 1993 तक इस उद्योग का आधा हिस्सा चीन में स्थानान्तरित हो चुका था। 21वीं सदी के शुरू में जहाज़ों को तोड़ने का दुनिया का 70 प्रतिशत काम अलंग-सोसिया क्षेत्र में होने लगा और वह भी बेहद कम और कामचलाऊ तकनीकी सुविधाओं के साथ। इसके अलावा पाकिस्तान के गदानी और बंगलादेश के चटगाँव में भी इसी तरीके से यह काम होता है। जहाज़ों के मालिक ख़तरनाक विस्फोटक और अन्य रासायनिक पदार्थों को भारत भेजने से पहले हटाते भी नहीं हैं। पहले जिन देशों में यह काम होता था वहाँ के सख़्त नियमों के कारण पुराने जहाज़ों के मालिकों को इनमें से नुकसानदेह चीज़ें हटाने में काफ़ी ख़र्च करना पड़ता था। लेकिन भारत सरकार की दरियादिली के कारण अब वे घातक सामानों से भरे जहाज़ को सीधे यार्ड में भेज देते हैं। आख़िर इसी तरह तो देश का विकास होगा ना!

अलंग-सोसिया शिप-ब्रेकिंग यार्ड में रोज़ाना जानलेवा हादसे होते हैं। विशालकाय समुद्री जहाज़ों को तोड़ने का काम मज़दूरों को बेहद असुरक्षित परिस्थितियों में करना पड़ता है। अपर्याप्त तकनीकी सुविधाओं, बिना हेल्मेट, मास्क, दस्तानों आदि के मज़दूर जहाज़ों के अन्दर दमघोटू माहौल में स्टील की मोटी प्लेटों को गैस कटर से काटते हैं, जहाज़ों के तहख़ानों में उतरकर हर पुर्ज़ा, हर हिस्सा अलग करने का काम करते हैं। अकसर जहाज़ों की विस्फोटक गैसें तथा अन्य पदार्थ आग पकड़ लेते हैं और मज़दूरों की झुलसकर मौत हो जाती है। क्रेनों से अकसर स्टील की भारी प्लेटें गिरने से मज़दूर दबकर मर जाते हैं। कितने मज़दूर मरते और अपाहिज होते हैं इसके बारे में सही-सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। अधिकतर मामलों को तो पूरी तरह छिपा ही लिया जाता है। लाशें ग़ायब कर दी जाती हैं। कुछ के परिवारों को थोड़ा-बहुत मुआवज़ा देकर चुप करा दिया जाता है। ज़ख़्मियों को दवा-पट्टी करवाकर या कुछ पैसे देकर गाँव वापस भेज दिया जाता है। एक अनुमान के मुताबिक अलंग यार्ड में रोज़ाना कम से कम 20 बड़े हादसे होते हैं और कम से कम एक मज़दूर की मौत होती है। एक विस्फोट में 50 मज़दूरों की मौत होने के बाद सरकार ने अलंग में मज़दूरों का हेल्मेट पहनना अनिवार्य बना दिया। लेकिन हेल्मेट तो क्या यहाँ मज़दूरों को मामूली दस्ताने भी नहीं मिलते। चारों तरफ़ आग, ज़हरीली गैसों और धातु के उड़ते कणों के बीच मज़दूर मुँह पर एक गन्दा कपड़ा लपेटकर काम करते रहते हैं। ज़्यादातर प्रवासी मज़दूर होने के कारण वे प्राय: बेबस होकर सबकुछ सहते रहते हैं। इन मज़दूरों की पक्की भर्ती नहीं की जाती है। उन्हें न तो कोई पहचान पत्र जारी होते हैं न ही उनका कोई रिकार्ड रखा जाता है।

अलंग को पुराने "जहाज़ों की कब्रगाह" भी कहते हैं। लेकिन उससे भी बढ़कर यह इन्सानी ज़िन्दगियों की कब्रगाह है जहाँ हर साल सैकड़ों मज़दूर दुर्घटनाओं और घातक बीमारियों की भेंट चढ़ जाते हैं और सैकड़ों अन्य जीवनभर के लिए अपाहिज हो जाते हैं। जो ज़िन्दा हैं वे तमाम तरह के रोगों और घावों को लिये हुए मुनाफ़े की चक्की में पिसते रहते हैं। वे टूटी एड़ियाँ, कटी हुई उँगलियाँ, कुचले हुए सिर, रीढ़ की चोट, मलेरिया, हैजा, टीबी, भयंकर जलन वाली खुजली को झेलकर काम करते हैं। कुछ जलकर मरते हैं तो कुछ डूबकर मर जाते हैं। किसी के पास कोई ब्योरा नहीं कि हादसे और बीमारियाँ कितनों की बलि लेती हैं। लेकिन हर कोई कहता है कि यहाँ कम से कम एक मज़दूर रोज़ मरता है!

जहाज़ों को तोड़ने के दौरान पेंट, तेल, प्लास्टिक पदार्थ आदि जलने से ज़हरीली रासायनिक गैसें पैदा होती हैं और विभिन्न धातुओं और अन्य पदार्थों के कण हवा में घुलकर स्वास्थ्य के लिए बेहद खतरनाक धूल पैदा करते हैं। समुद्री जहाज़ों में एस्बेस्टोस का काफी बड़े स्तर पर इस्तेमाल होता है। वैज्ञानिकों ने यह साबित किया है कि एस्बेस्टोस के सम्पर्क में रहने से कई अन्य रोगों के साथ-साथ कैंसर होने का ख़तरा बहुत बढ़ जाता है। इसी वजह से यूरोप के देशों में एस्बेस्टोस के खनन और इस्तेमाल पर क़ानूनी पाबन्दी है। लेकिन भारत में इस पर कोई रोकटोक नहीं है। इन वजहों से अलंग-सोसिया क्षेत्र का सारा वातावरण भंयकर रूप से प्रदूषित हो चुका है। मज़दूर तो इन ज़हरीली रासायनिक गैसों, एस्बेस्टोस जैसे पदार्थों की खतरनाक धूल आदि के 12-14 घण्टे सीधे सम्पर्क में रहते हैं। इसके अलावा उनकी रिहायश भी उसी इलाके में होती है। बहुत सारे मज़दूर तो काम की जगह पर ही रहते भी हैं। ऐसे में मज़दूर प्रदूषण का सबसे अधिक शिकार होते हैं। अधिकतर मज़दूर हैजा, टाइफाइड, और शीतपित्ती (चमड़ी का रोग) से पीड़ित हैं। पूरे भारत में दस हजार के पीछे 8 लोगों को शीतपित्ती (अर्टीकेरिया) होता है लेकिन अलंग-सोसिया क्षेत्र के दस हजार के पीछे 97 मज़दूर इस रोग से पीड़ित हैं। एस्बेस्टोस की धूल मज़दूरों के कपड़ों से उनके घरों तक भी पहुँच जाती हैं जहाँ उनके साथ रहने वाले अन्य मज़दूरों या पारिवारिक सदस्यों के शरीर में यह धूल चली जाती है। यहाँ शोध करने वाले जर्मनी के पेशागत स्वास्थ्य विशेषज्ञ डा. फ्रैंक हिटमान का कहना है कि इस क्षेत्र के हर चौथे मज़दूर को कैंसर होने की आशंका है। पिछले 20 वर्ष से चल रहे इस धन्धे से आसपास के पर्यावरण की भयंकर तबाही हुई है। अगर अब यहाँ यह धन्धा बन्द भी कर दिया जाये तो भी 10-12 वर्षों तक प्रदूषण का असर खत्म नहीं होने वाला।

अलंग यार्ड में क़ानूनों का पालन कराने की ज़िम्मेदारी दो सरकारी विभागों पर है – गुजरात सामुद्रिक बोर्ड (जीएमबी) और विस्फोट नियंत्रक (सी.ओ.ई.)। लेकिन हर औद्योगिक इलाक़े की तरह यहाँ भी इनकी नाक के नीचे मालिक और ठेकेदार नियमों की धज्जियाँ उड़ाते रहते हैं। रोज़ाना होने वाले हादसों के बाद ये दोनों विभाग मालिकों-ठेकेदारों पर आरोप मढ़ते हैं लेकिन असल में यह सारा गोरखधन्धा इन सबकी मिलीभगत से चलता है। दूसरी बात यह है कि जीएमबी जिसे 10 किमी के तटीय क्षेत्र में फैले इस बड़े कारोबार का सर्वेक्षण करना होता है उसमें एक चीफ़ अफ़सर के अलावा सिर्फ तीन सेफ़्टी सुपरवाइज़र ही हैं जो चाहें भी तो हर जगह नज़र नहीं रख सकते।

लेकिन बात सिर्फ़ सरकारी महकमों के भ्रष्टाचार की नहीं है। यह धन्धा बेरोकटोक चलता रहे भले ही कितने ही मज़दूर हादसों और बीमारियों से मरें – यह भारत सरकार और गुजरात सरकार की साझी नीति है। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह पूँजी निवेश बढ़ाने के लिए श्रम क़ानूनों को "और भी लचीला" बनाने का वादा करके देशी-विदेशी पूँजीपतियों को ललचा रहे हैं। गुजरात के जिस "विकास" के आँकड़े चमकाकर नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री के तौर पर पेश किया जा रहा है वह "विकास" इसी तरह मज़दूरों की लाशों और तबाह ज़िन्दगियों पर कदम रखकर आगे बढ़ रहा है।

देश की ऊँची अदालतें बीच-बीच में अलंग में मौत के इस कारोबार को नियंत्रित करने, ख़तरनाक पदार्थों वाले जहाज़ों को यहाँ न तोड़ने, पर्यावरण की तबाही रोकने और मज़दूरों की सुरक्षा के लिए "ठोस" कदम उठाने के लिए आदेश जारी करती रहती हैं, कभी केन्द्र तो कभी गुजरात सरकार की ओर से हालात की जाँच के लिए कमीशन और टीमें बनायी जाती रहती हैं, मगर हर साल अरबों के मुनाफ़े का यह ख़ूनी खेल बेरोकटोक जारी है।

● लखविन्दर

अलंग में मज़दूर बिना किसी सुरक्षा उपकरण के जहाज़ तोड़ते हैं, जहाँ धुएँ और धूल के कारण दिन में भी सूरज नज़र नहीं आता, और स्टील की चादरों के टकराने तथा गैस कटरों के शोर के अलावा कुछ भी सुनायी नहीं देता। एक नौजवान मज़दूर के शब्दों में, "इस जगह पर मौत का साया है। लेकिन काम करते-करते मरना भूखे मरने से तो अच्छा है!"

पेरिस कम्यून : पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा (चौथी किश्त)

आज भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के मज़दूर पूँजी की लुटेरी ताक़त के तेज़ होते हमलों का सामना कर रहे हैं, और मज़दूर आन्दोलन बिखराब, ठहराव और हताशा का शिकार है। ऐसे में इतिहास के पन्ने पलटकर मज़दूर वर्ग के गौरवशाली संघर्षों से सीखने और उनसे प्रेरणा लेने की अहमियत बहुत बढ़ जाती है। आज से 141 वर्ष पहले, 18 मार्च 1871 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में पहली बार मज़दूरों ने अपनी हुकूमत क़ायम की। इसे पेरिस कम्यून कहा गया। उन्होंने शोषकों की फैलायी इस सोच को ध्वस्त कर दिया कि मज़दूर राज-काज नहीं चला सकते। पेरिस के जाँबाज़ मज़दूरों ने न सिर्फ़ पूँजीवादी हुकूमत की चलती चक्की को उलटकर तोड़ डाला, बल्कि 72 दिनों के शासन के दौरान आने वाले दिनों का एक छोटा-सा मॉडल भी दुनिया के सामने पेश कर दिया कि समाजवादी समाज में भेदभाव, ग़ैर-बराबरी और शोषण को किस तरह ख़त्म किया जायेगा। आगे चलकर 1917 की रूसी मज़दूर क्रान्ति ने इसी कड़ी को आगे बढ़ाया।

मज़दूर वर्ग के इस साहसिक कारनामे से फ्रांस ही नहीं, सारी दुनिया के पूँजीपतियों के कलेजे काँप उठे। उन्होंने मज़दूरों के इस पहले राज्य का गला घोंट देने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया और आख़िरकार मज़दूरों के कम्यून को उन्होंने ख़ून की नदियों में डुबो दिया। लेकिन कम्यून के सिद्धान्त अमर हो गये।

पेरिस कम्यून की हार से भी दुनिया के मज़दूर वर्ग ने बेशक़ीमती सबक़ सीखे। पेरिस के मज़दूरों की क़ुर्बानी मज़दूर वर्ग को याद दिलाती रहती है कि पूँजीवाद को मटियामेट किये बिना उसकी मुक्ति नहीं हो सकती।

'मज़दूर बिगुल' के मार्च 2012 अंक से हमने दुनिया के पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा की शुरुआत की है, जो अगले कई अंकों में जारी रहेगी। **– सम्पादक**

ऐसे हुई पेरिस कम्यून की शुरुआत

इस शृंखला की पहली दो किश्तों में हमने पेरिस कम्यून की पृष्ठभूमि के तौर पर यह जाना कि पूँजी की सत्ता के ख़िलाफ़ लड़ने की शुरुआत मज़दूरों ने कैसे की और किस तरह चार्टिस्ट आन्दोलन तथा 1848 की क्रान्तियों से होते हुए मज़दूर वर्ग की चेतना और उसकी संगठनबद्धता आगे बढ़ती गयी। हमने मज़दूर वर्ग की वैज्ञानिक विचारधारा के विकास और उसके पहले अन्तरराष्ट्रीय संगठन के गठन के बारे में जाना। पिछले अंक (तीसरी किश्त) में हमने पेरिस कम्यून की पूरी कहानी को थोड़े शब्दों में पाठकों के सामने रखा था। इस अंक से हम कम्यून की स्थापना और उसकी रक्षा करने में मेहनतकशों के वीरतापूर्ण संघर्ष तथा कम्यून के उन महान फ़ैसलों और कामों के बारे में विस्तृत चर्चा शुरू कर रहे हैं जो आज भी दुनिया भर के सर्वहारा वर्ग को राह दिखा रहे हैं। –सं.

पेरिस की मेहनतकश जनता इस बात से तटस्थ नहीं थी कि देश के शासक क्या कर रहे हैं। वे समझ रहे थे कि दुश्मन फ़ौज दरवाज़े पर खड़ी थी और शासक देश की रक्षा करने के बजाय समझौतों और साज़िशों में लगे थे। सड़कों पर, चायख़ानों में, हर जगह लोग इकट्ठा होकर इस स्थिति पर चर्चा किया करते थे।

1. पेरिस कम्यून की स्थापना की ओर ले जाने वाली घटनाओं की शुरुआत तब हुई जब प्रशिया के साथ लड़ाई में सितम्बर 1870 में फ्रांस की बुरी तरह हार हुई। साम्राज्य के ध्वस्त होने के साथ ही फ्रांस की राजधानी पेरिस के मेहनतकशों ने तीसरे गणराज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। एक अस्थायी सरकार क़ायम हुई जिसे राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार कहा गया। लेकिन मज़दूरों को हथियारबन्द किये बिना, और उन्हें एक प्रभावी लड़ाकू बल के रूप में संगठित किये बिना पेरिस की रक्षा नहीं की जा सकती थी। मगर पेरिस के मेहनतकशों को हथियारबन्द करने का मतलब था क्रान्ति को हथियारबन्द करना। प्रशिया की हमलावर सेना पर पेरिस की जीत फ्रांस के पूँजीपतियों और उनके चाकर सरकारी अधिकारियों पर फ्रांसीसी मज़दूरों की जीत होती। राष्ट्रीय कर्तव्य और वर्ग हितों के इस टकराव में, तथाकथित 'राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार' ने विदेशी दुश्मन के आगे घुटने टेकने में ज़रा भी संकोच नहीं दिखाया ताकि मज़दूरों को कुचला जा सके। मगर पेरिस के मेहनतकश समर्पण करने को तैयार नहीं थे। ग़रीब और उत्पीड़ित जनता की मदद और भरपूर भागीदारी से पेरिस के नेशनल गार्ड (1789 की क्रान्ति के दौरान जनता के बीच से उठ खड़े हुए सैन्य दस्तों) ने शहर की रक्षा के लिए कमर कस ली। सितम्बर 1870 के अन्तिम दिनों में प्रशिया की सेना ने पेरिस की घेरेबन्दी कर दी जो पाँच महीने तक चली। इस दौरान पेरिस के आम लोगों को भयानक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा मगर वे डटे रहे। पूँजीपतियों की सरकार के प्रमुख एडोल्फ़ थियेर ने जनवरी 1871 में अपमानजनक शर्तों पर प्रशिया के साथ समझौता कर लिया, फिर भी पेरिस की जनता ने समर्पण करने से इंकार कर दिया और नेशनल गार्ड में भरती जारी रही।

2. थियेर अच्छी तरह समझ रहा था कि जब तक पेरिस के मज़दूरों के हाथों में हथियार हैं तब तक सम्पत्तिवान वर्गों – बड़े भूस्वामियों और पूँजीपतियों – के राज के लिए ख़तरा बना रहेगा। दूसरे, प्रशिया का शासक बिस्मार्क फ्रांस की धरती पर मौजूद अपने पाँच लाख सैनिकों का खर्च भी फ्रांस की सरकार से वसूलने की माँग कर रहा था। थियेर और सरकार में उसके भ्रष्ट सहयोगी गणराज्य का तख़्ता पलटने का षड्यन्त्र रच रहे थे ताकि प्रशिया की इस माँग को पूरा करने का बोझ देश की मेहनतकश जनता पर थोपा जा सके। इस षड्यन्त्र की राह में एक ही ज़बर्दस्त बाधा थी – मज़दूरों का पेरिस। पेरिस की घेरेबन्दी के दौरान नेशनल गार्ड के सैनिकों ने ख़ुद संसाधन जुटाकर 400 तोपों का तोपख़ाना खड़ा किया था। पेरिस को निहत्था करना थियेर की सफलता की पहली शर्त थी। 18 मार्च, 1871 को थियेर ने नेशनल गार्ड की तोपों सहित उसके हथियार छीनने के लिए अपनी सेना को भेजा। सुबह होने से पहले अचानक की गयी इस कार्रवाई में कई जगह सरकारी सैनिक तोपों पर कब्ज़ा करने में सफल रहे, लेकिन जब वे मोन्तमार्त्र नाम के इलाक़े में पहुँचे तो मेहनतकश औरतों की नाराज़ भीड़ ने उन्हें घेर लिया और अपने ही लोगों पर गोली चलाने के लिए उन्हें धिक्कारने लगीं। औरतों की टुकड़ियों ने तोपों की हिफ़ाज़त की और चारों ओर ख़बर फैला दी। थोड़ी ही देर में, नेशनल गार्ड के हज़ारों सैनिकों की टुकड़ियाँ सड़कों पर निकल आयीं और नगाड़े बजाते हुए जनता को गोलबन्द करना शुरू कर दिया। **दोपहर के तीन बजे तक दुनिया के सबसे बड़े शहरों में से एक, पेरिस पर हथियारबन्द मज़दूरों का कब्ज़ा हो चुका था।**

पेरिस के बाहरी घेरे पर मज़दूरों के रिहायशी इलाक़े थे। जैसे-जैसे इन उपनगरों में लोग जागते गये और उन्हें थियेर की इस कमीनी हरकत का पता चलता गया, वे अपने औज़ारों और हथियारों के साथ सड़कों पर उमड़ पड़े और तोपों की रक्षा में जुट गये। ऊपर के चित्र में औरतों और बच्चों का एक दल दो तोपों को धकेलकर मोन्तमार्त्र की पहाड़ी पर ले जा रहा है।

3. जल्दी ही सेना की अन्य टुकड़ियों ने भी बग़ावत कर दी और बग़ावत की आग इतनी तेज़ी से फैली कि घबराये हुए थियेर ने बची-खुची सेना सहित सरकार को तुरन्त पेरिस छोड़कर वर्साई चले जाने का आदेश दे दिया। उनके साथ ही पेरिस के तमाम अमीर और सरकारी अधिकारी भी भाग खड़े हुए। कम्यूनार्डों ने उन्हें जाने दिया, जबकि इन सैनिकों को वे अपने पक्ष में कर सकते थे। उन्हें पेरिस से भाग रहे अमीरों को बन्धक बना लेना चाहिए था। अपनी इस उदारता की बाद में उन्हें भारी क़ीमत चुकानी पड़ी क्योंकि पूँजीपतियों ने मज़दूरों का ख़ून बहाने में रत्तीभर भी उदारता नहीं दिखायी।

सरकारी फ़ौज के जनरल क्लोद मार्टिन लेकॉम्ते ने लोगों की भीड़ पर गोली चलाने का आदेश तीन बार दिया। इस भीड़ में औरतें और बच्चे भी थे। लेकिन थियेर के सैनिकों ने गोली चलाने से इंकार कर दिया और उल्टे अपने ही जनरलों को गोली से उड़ा दिया। ऊपर के चित्र में जनरल लेकॉम्ते और एक अन्य जनरल को गोली मारते हुए उन्हीं के सैनिक दिखाये गये हैं।

अपनी बग्घियों में पेरिस से भागते हुए अमीर लोग। आम लोग उन्हें भागते हुए देखने के लिए सड़कों के किनारे जुट जाते और उन्हें यह देखकर बड़ा मज़ा आता था कि जान बचाकर भाग रहे इन अमीरों को ऐसे वक़्त पर भी अपनी क़ीमती पोशाकों, हैटों और गहनों को सँभालने की चिन्ता लगी हुई थी।

शुरू में सरकारी फ़ौजों की कुछ टुकड़ियों ने नेशनल गार्ड और लोगों पर हमले किये और उनसे तोपें छीनने की कोशिश की। लेकिन जनता का क्रान्तिकारी जोश जागृत हो चुका था और मज़दूर लड़ने के लिए पूरी तरह तैयार थे। उन्होंने ख़ास-ख़ास जगहों पर सड़कों पर बैरिकेड खड़े कर दिये और सैकड़ों की संख्या में उन पर मोर्चा सँभाल लिया। ऊपर और नीचे की तस्वीरों में मोन्तमार्त्र तथा एक अन्य इलाक़े में मोर्चे पर डटे हुए मज़दूर और नेशनल गार्ड के सदस्य दिख रहे हैं। सभी जगहों पर थियेर की वफ़ादार सैन्य टुकड़ियों को पीछे धकेल दिया गया।

कम्यून की ओर से जारी पोस्टर को पढ़ते हुए एक कम्युनार्ड

4. 18 मार्च को पेरिस में हर ओर यह गगनभेदी नारा गूँजता रहा – **'Vive La Commune!'** यानी **'कम्यून ज़िन्दाबाद!'** आख़िर यह कम्यून था क्या?

कम्यून की केन्द्रीय कमेटी ने 18 मार्च को जारी अपने घोषणापत्र में कहा था: **"शासक वर्गों की असफलताओं और ग़द्दारियों के बीच पेरिस के सर्वहाराओं ने यह समझ लिया है कि अब वक़्त आ गया है कि वे सार्वजनिक मामलों की दिशा अपने हाथों में लेकर स्थिति को सँभालें... उन्होंने समझ लिया है कि यह उनका अनिवार्य कर्त्तव्य और उनका परम अधिकार है कि वे सरकारी सत्ता पर कब्ज़ा करके अपने भाग्य का सूत्रधार स्वयं बनें!"** यह इतिहास में अभूतपूर्त घटना थी। उस समय तक सत्ता आम तौर पर ज़मींदारों तथा पूँजीपतियों के, यानी उनके विश्वसनीय लोगों के हाथों में होती थी, जिन्हें लेकर सरकार का गठन किया जाता था। लेकिन 18 मार्च की क्रान्ति के बाद, जब थियेर की सरकार अपने सैनिकों, पुलिस और अफ़सरों को लेकर पेरिस से भाग गयी थी, तब जनता स्थिति की स्वामी बन गयी और सत्ता सर्वहारा वर्ग के हाथों में पहुँच गयी। लेकिन आधुनिक समाज में सर्वहारा वर्ग राजनीतिक दृष्टि से तब तक अपना वर्चस्व क़ायम नहीं कर सकता, जब तक वह उन ज़ंजीरों को नहीं तोड़ देता, जो उसे पूँजी के साथ बाँधकर रखती हैं। इसीलिए यह ज़रूरी था कि कम्यून का आन्दोलन हर हाल में समाजवादी रंग लेता, यानी बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व को, पूँजी के वर्चस्व को उलट देने तथा मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को जड़ से नष्ट कर देने के प्रयत्न शुरू करता।

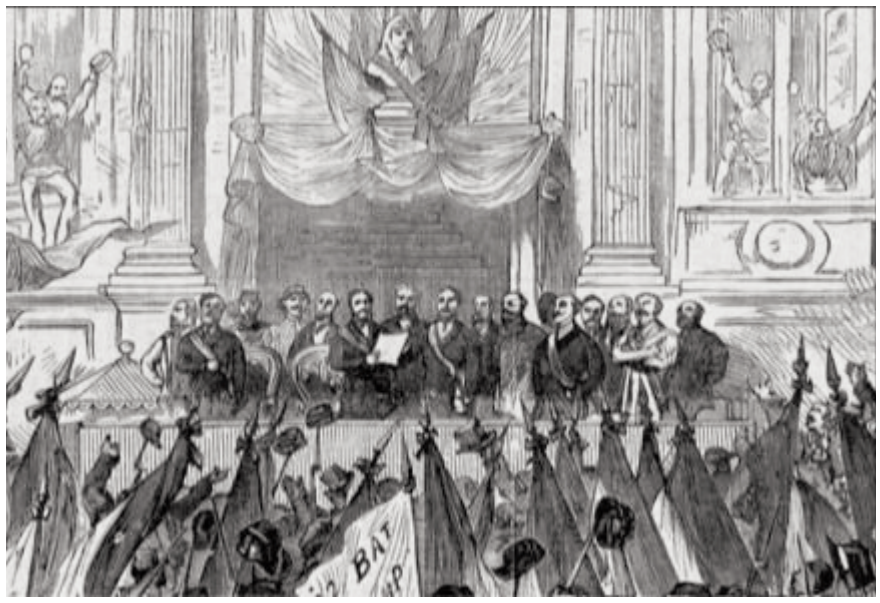

28 मार्च 1871 को टाउनहाल में पेरिस कम्यून की स्थापना की औपचारिक घोषणा कर दी गयी।

5. 18 मार्च 1871 को ही पेरिस कम्यून की स्थापना कर दी गयी। नेशनल गार्ड की केन्द्रीय कमेटी ने तुरन्त ही एक म्युनिस्पल सरकार का चुनाव कराने का आह्वान किया। मगर यह स्पष्ट था कि नयी सरकार चुने हुए प्रतिनिधियों की परम्परागत संसद जैसी नहीं होगी, बल्कि यह एक नये क़िस्म का शासन होगा, जो सचमुच में जनता के प्रति जवाबदेह होगा और जिसमें आम जनता की सीधी भागीदारी होगी। 26 मार्च को कम्यून का चुनाव हुआ। कम्यून परिषद के 92 सदस्यों में बड़ी संख्या में कुशल मज़दूर और कारीगर तथा अनेक डॉक्टर तथा पत्रकार जैसे पेशेवर लोग शामिल थे। उनमें से बहुत-से राजनीतिक कार्यकर्ता थे जिनमें सुधारवादी गणतंत्रवादी और विभिन्न प्रकार के समाजवादी शामिल थे। शुरू-शुरू में यह आन्दोलन घोर उलझनभरा और अनिश्चित था। उसमें वे देशभक्त भी शामिल हुए, जिन्हें आशा थी कि कम्यून जर्मनों के साथ युद्ध फिर से शुरू कर देगा और उसे सफल समापन तक पहुँचायेगा। छोटे दुकानदारों ने भी उसका समर्थन किया, जिनके तबाह हो जाने का ख़तरा था, अगर क़र्जों तथा मकान-भाड़े का भुगतान मुल्तवी न किया जाता। शुरू-शुरू में कम्यून को एक हद तक बुर्जुआ जनतंत्रवादियों की सहानुभूति भी प्राप्त थी, जिन्हें भय था कि प्रतिक्रियावादी राष्ट्रीय सभा राजतंत्र की पुन:स्थापना कर देगी। लेकिन इस आन्दोलन में मुख्य भूमिका निस्सन्देह मज़दूरों (ख़ास तौर पर पेरिस के कारीगरों) ने अदा की, जिनके बीच द्वितीय साम्राज्य के अन्तिम सालों में सक्रिय समाजवादी प्रचार किया गया था और जिनमें से बहुत-से कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल में भी थे।

नीचे: कम्यून की स्थापना का जश्न मनाते हुए मेहनतकशों का हुजूम

RÉPUBLIQUE FRANÇAISE

LIBERTÉ — ÉGALITÉ — FRATERNITÉ

COMMUNE DE PARIS

APPEL AUX OUVRIÈRES

Le Comité central de l'Union des femmes pour la défense de Paris et les soins aux blessés, chargé par la Commission de Travail et d'Échange de la Commune, de l'organisation du travail des femmes à Paris, de la constitution des chambres syndicales et fédérales des travailleuses unies,

Vu l'identité des chambres syndicales et fédérales des travailleurs, du groupement des ouvrières en sections de métier formant des associations productives libres, fédérées entre elles,

En conséquence, invite toutes les ouvrières à se réunir, aujourd'hui mercredi 17 mai, à la Bourse, à 7 heures du soir, afin de nommer des déléguées de chaque corporation pour constituer les chambres syndicales qui, à leur tour, enverront chacune deux déléguées pour la formation de la chambre fédérale des travailleuses.

Pour tous les renseignements, s'adresser au *Comité de l'Union des femmes*, institué et fonctionnant dans tous les arrondissements.

Siége du *Comité central de l'Union* : rue du Faubourg-Saint-Martin, à la Mairie du X^e^ arrondissement.

Vu et approuvé :

Le Délégué au département du Travail et de l'Échange,

Léo FRANKEL.

La Commission exécutive du Comité central.

NATHALIE LE MEL.
AUNE JACQUIER.
LELOUP.
BLANCHE LEFEVRE.
COLLIN.
JARRY.
ÉLISABETH DMITRIEFF.

कम्यून की याद में सोवियत संघ में जारी डाक टिकट

6. कम्यून के चुनाव के लिए इण्टरनेशनल की पेरिस इकाई की ओर से जारी पर्चे **'मज़दूरों से अपील'** (दायीं ओर उस पर्चे का चित्र दिया गया है) से अनुमान लगाया जा सकता है कि उस वक़्त कम्यून के सामने क्या मुद्दे थे। नीचे उस पर्चे के कुछ हिस्से का अनुवाद दिया गया है:

मज़दूरो: हमने संघर्ष किया है और अपने समतावादी सिद्धान्तों के लिए तकलीफ़ उठाना सीखा है। जब तक हम नये सामाजिक ढाँचे की नींव तैयार करने में मदद कर सकते हैं, तब तक हम पीछे नहीं हट सकते।

हमने किस चीज़ की माँग की है? ऋण, विनिमय, और उत्पादन कोऑपरेटिवों के समूचे काम को इस तरह संगठित किया जाये जिससे कि मज़दूर को उसके श्रम का पूरा मूल्य मिलने की गारण्टी हो सके; मुफ़्त, सबके लिए एक जैसी और पूर्ण शिक्षा; सभा करने, संगठित होने और स्वतंत्र प्रेस के अधिकार तथा व्यक्ति के अधिकार; पुलिस, सेना, साफ़-सफ़ाई, आँकड़ों, आदि का प्रशासन नागरिकों के समुदाय द्वारा हो।

अब तक हम शासन करने वालों द्वारा ठगे जाते रहे हैं, वे हमें आपस में लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करते रहे हैं।

आज पेरिस की जनता दूर तक देख रही है। वह किसी हुक्मरान द्वारा उँगली पकड़कर चलाये जाने वाले बच्चे की भूमिका को खारिज करती है और (26 मार्च, 1871 के) म्युनिस्पल चुनाव में, जोकि स्वयं जनता की कार्रवाई का परिणाम है, वह याद रखेगी कि समाज भी उसी सिद्धान्त से चलना चाहिए जिस सिद्धान्त से समूह और संघ चलते हैं। इसीलिए वे जिस तरह किसी बाहरी ताक़त द्वारा थोपे गये प्रशासन या अध्यक्ष को ख़ारिज करेंगे उसी तरह वे ऐसे किसी भी मेयर या प्रीफ़ेक्ट को भी ख़ारिज कर देंगे जो उनकी आकांक्षाओं पर खरी न उतरने वाली सरकार द्वारा थोपे जायेंगे। ... हमें विश्वास है कि रविवार, 26 मार्च को पेरिस की जनता कम्यून के पक्ष में वोट डालने को सम्मान की बात समझेगी।

– इण्टरनेशनल की संघीय परिषद (पेरिस) और ट्रेड यूनियनों का महासंघ, 23 मार्च, 1871

7. बेहद मुश्किल हालात के बावजूद, अपने थोड़े-से समय में कम्यून कुछ बड़े कदम उठाने में कामयाब रहा। कम्यून ने स्थायी सेना, यानी सत्ताधारी वर्गों के हाथों के इस दानवी अस्त्र के स्थान पर पूरी जनता को हथियारबन्द किया। उसने धर्म को राज्य से पृथक करने की घोषणा की, धार्मिक पंथों को राज्य से दी जानेवाली धनराशियाँ (यानी पुरोहित-पादरियों को राजकीय वेतन) बन्द कर दीं, जनता की शिक्षा को सही अर्थों में सेक्युलर बना दिया और इस तरह चोग़ाधारी पुलिसवालों पर करारा प्रहार किया। विशुद्ध सामाजिक क्षेत्र में कम्यून बहुत कम हासिल कर पाया, लेकिन यह "बहुत कम" भी जनता की, मज़दूरों की सरकार के रूप में उसके स्वरूप को बहुत साफ़ तौर पर उजागर करता है। नानबाइयों की दुकानों में रात्रि-श्रम पर पाबन्दी लगा दी गयी। जुर्माने की प्रणाली का, जो मज़दूरों के साथ एक क़ानूनी डकैती थी, ख़ात्मा कर दिया गया। आखिरी चीज़, वह प्रसिद्ध आज्ञप्ति जारी की गयी, जिसके अनुसार मालिकों द्वारा छोड़ दिये गये या बन्द किये गये सारे मिल-कारख़ाने और वर्कशाप उत्पादन फिर से शुरू करने के लिए मज़दूरों के संघों को सौंप दिये गये। और सच्ची जनवादी, सर्वहारा सरकार के अपने स्वरूप पर ज़ोर देने के लिए कम्यून ने यह निर्देश दिया कि समस्त प्रशासनिक तथा सरकारी अधिकारियों के वेतन मज़दूर की सामान्य मज़दूरी से अधिक नहीं होंगे और किसी भी सूरत में 6000 फ्रांक सालाना से ज़्यादा नहीं होंगे। इन तमाम कदमों ने एकदम साफ़ तौर पर यह दिखा दिया कि कम्यून जनता की गुलामी और शोषण पर आधारित पुरानी दुनिया के लिए घातक ख़तरा था। इसी कारण बुर्जुआ समाज तब तक चैन महसूस नहीं कर सका, जब तक पेरिस की नगर संसद पर सर्वहारा वर्ग का लाल झण्डा फहराता रहा।

पेरिस कम्यून में शामिल कुछ अग्रणी मज़दूर

अगले अंक में: कम्यून ने पहली बार सच्चे जनवाद के उसूलों को व्यवहार में कैसे लागू किया।

हरसोरिया हेल्थकेयर, गुड़गाँव के मज़दूरों की हड़ताल

आन्दोलन को थकाकर तोड़ने की पुरानी कहानी फिर दोहरायी जा रही है

पिछले दिनों गुड़गाँव के ओरियण्ट क्राफ़्ट और फिर ओरियो ग्राण्ट कॉम्प्लेक्स में कम्पनी मैनेजमेण्ट और ठेकेदारों की तानाशाही और गुण्डागर्दी के विरोध में हुए मज़दूरों के उग्र प्रदर्शन दबा दिये गये मगर मज़दूरों का गुस्सा अन्दर ही अन्दर सुलग रहा है। इसी बीच उद्योग विहार स्थित मेडिकल उपकरण बनाने वाली एक कम्पनी हरसोरिया हेल्थकेयर के मज़दूर पिछले डेढ़ महीने से हड़ताल पर हैं। पिछले 27 अप्रैल से हड़ताली मज़दूर श्रम कार्यालय के बाहर धरने पर बैठे हैं। पिछले कुछ समय से गुड़गाँव क्षेत्र में जगह-जगह मज़दूर अपने साथ होने वाले अन्याय-अत्याचार के ख़िलाफ़ बार-बार आवाज़ उठा रहे हैं। मगर हर संघर्ष पर ख़ुश होकर तालियाँ पीटने और मज़दूर वर्ग के जाग उठने का सर्टिफ़िकेट जारी करने के बजाय थोड़ा ठहरकर यह सोचना ज़रूरी है कि अलग-अलग हो रहे इन संघर्षों-हड़तालों और आन्दोलनों में मज़दूरों को कितनी कामयाबी मिल पा रही है? क्या लड़ने का यही एक रास्ता है? क्या एक जैसे हालात में शोषण और दमन के शिकार मज़दूर, साझा माँगों पर एक साथ मिलकर कोई साझा और बड़ी लड़ाई नहीं लड़ सकते?

मगर पहले हम हरसोरिया में चल रही हड़ताल की पृष्ठभूमि और इस कम्पनी में पिछले वर्ष भी हुई हड़ताल पर एक नज़र डाल लेते हैं। हरसोरिया में मार्च 2010 में मज़दूरों ने अपनी ट्रेड यूनियन बनाई थी जिसका पंजीकरण मार्च 2011 में हो गया था। इसके कुछ दिन बाद ही कुछ मज़दूर नेताओं पर अनुशासनहीनता का आरोप लगाकर बर्खास्त कर दिया गया। इसके विरोध में मज़दूरों ने अप्रैल 2011 में हड़ताल की जिस दौरान मज़दूरों को पुलिस और गुण्डों द्वारा मारा-पीटा और डराया-धमकाया गया मगर मज़दूर अड़े रहे। लेकिन हड़ताल की अगुवाई कर रही हिन्द मज़दूर सभा (एच.एम.एस.) ने समझौता करवाने के बाद कानूनी लड़ाई का रास्ता दिखाकर मज़दूरों के गुस्से को शान्त करके काम पर वापस भेज दिया था। इसके बाद एक साल से मज़दूर कोर्ट के चक्कर लगा रहे थे।

जनवरी 2012 में कम्पनी मैनेजमेण्ट ने उत्पादन में 35 प्रतिशत की कमी होने की बात कहकर मज़दूरों पर काम धीमा करने, दूसरे मज़दूरों को ओवरटाइम करने से रोकने और अनुशासनहीनता का आरोप लगाया और सभी मज़दूरों का नवम्बर 2011 से जनवरी 2012 तक 35 प्रतिशत वेतन काट लिया। इसी बीच नवम्बर 2011 में एक मज़दूर को कम्पनी से बर्ख़ास्त कर दिया गया, दिसम्बर 2011 की शुरुआत में दो और स्थाई मज़दूरों को बर्खास्त किया गया और 17 दिसम्बर 2011 को 13 मज़दूरों को निलम्बित कर दिया गया। मैनेजमेण्ट के साथ वार्ता के बाद भी निलम्बित 12 मज़दूरों को वापस नहीं लिया गया और पिछले अप्रैल में इन 12 में से 3 मज़दूरों को बर्ख़ास्त कर दिया गया।

एक के बाद एक मैनेजमेण्ट की इस अन्धेरगर्दी से तंग आकर पिछले 24 अप्रैल को मज़दूरों ने काम बन्द कर दिया और कम्पनी के अन्दर ही धरने पर बैठ गये। अगले ही दिन कम्पनी ने 21 और स्थाई मज़दूरों को काम से निकाल दिया और 109 मज़दूरों को सस्पेण्ड कर दिया। 27 अप्रैल को मैनेजमेण्ट मज़दूरों को कम्पनी परिसर से बाहर निकलवाने के लिए कोर्ट से आदेश ले आया और पुलिस तथा कम्पनी के गुण्डों की मदद से अन्दर बैठे मज़दूरों को ज़बरदस्ती कम्पनी से बाहर निकाल दिया। कम्पनी से 50 मीटर दूर बैठने के बाद भी गुण्डों ने पुलिस के सामने ही मज़दूरों के साथ मारपीट की और पुलिस खड़ी देखती रही। इसके बाद सभी मज़दूर 27 अप्रैल से श्रम कार्यालय के बाहर धरने पर बैठे हुए हैं। मज़दूरों को बाहर निकालने के दूसरे दिन से कम्पनी ने कुछ नये मज़दूरों को लाकर काम शुरू करवाने की अफवाह फैला दी। पुराने मज़दूरों द्वारा नये मज़दूरों को समझाकर काम पर न जाने देने के बाद प्रबन्धन द्वारा लगभग 25 नये मज़दूरों को कम्पनी के अन्दर ही रहने-खाने और काम करने का इन्तज़ाम करने की बात भी पता चली है। तब से अब तक लगभग 650 मज़दूर लेबर आफ़िस पर धरने पर बैठे हैं, लेकिन आन्दोलन की अगुवाई कर रही हिन्द मज़दूर सभा का कोई बड़ा नेता मज़दूरों की माँगों पर आगे की कार्रवाई की ना तो कोई योजना दे रहा है, और ना ही कम्पनी पर दबाव बनाने का कोई प्रयास ही कर रहा है। दूसरी तरफ श्रम अधिकारी और मैनेजमेण्ट मज़दूरों की कोई बात सुनने के लिए ही तैयार नहीं हैं।

हड़ताल को एक महीने से ज़्यादा समय बीत जाने के बाद भी हड़ताल के पक्ष में व्यापक समर्थन जुटाने की बात तो दूर, हरसोरिया कम्पनी के आसपास मौजूद दूसरे कारख़ानों के मज़दूरों तक को हड़ताल की कोई जानकारी तक नहीं है। और न ही एच.एम.एस. ने मज़दूरों के सामने इस प्रकार की कोई योजना ही रखी है। यहाँ काम करने वाले ज़्यादातर मज़दूर उद्योग विहार के आसपास स्थित सरौल, मौलाहेड़ा और कापसहेड़ा की बस्तियों में रहते हैं, जहाँ लाखों की मज़दूर आबादी मौजूद है। ये मज़दूर भी उन्हीं परिस्थितियों में काम करते हैं जैसे कि हरसोरिया के मज़दूर और ज़्यादातर ठेका-कैजुअल-दिहाड़ी मज़दूरों की यह पूरी असंगठित आबादी कम्पनियों में खुले शोषण और उत्पीड़न की शिकार है। गुड़गाँव के हज़ारों कारख़ानों में से मुश्किल से सवा सौ में यूनियन है और यूनियन की माँग हर जगह एक अहम मुद्दा है। मगर आन्दोलन के नेतृत्व ने कभी भी मज़दूरों की व्यापक आबादी का समर्थन जुटाने की कोई कोशिश नहीं की।

हड़ताल के शुरू से ही यूनियन के पास न तो कोई योजना दिखती है और न ही संघर्ष को जुझारू ढंग से चलाकर कम्पनी पर दबाव बनाने का कोई ठोस कार्यक्रम उसे पास रहा है। धरने पर बैठे हरसोरिया के मज़दूरों ने बताया कि एक महीने में अभी तक सिर्फ एक बार गेट मीटिंग की गयी है। मज़दूरों का कहना है कि यूनियन के नेताओं के पास आगे की कोई योजना नहीं है और वे मैनेजमेण्ट से अपनी कोई भी माँग मनवाने के लिए दबाव बनाने की स्थिति में नहीं हैं। दूसरी तरफ श्रम अधिकारियों, हरियाणा के श्रम मंत्री और पुलिस मज़दूरों पर लगातार दबाव बनाये हुए हैं कि हड़ताल को समाप्त कर दिया जाये और निकाले गये मज़दूरों को छोड़कर बाकी मज़दूर वापस काम पर चले जायें, नहीं तो उन्हें ज़बरदस्ती हटा दिया जायेगा। बिना किसी योजना के चल रहे आन्दोलन के कारण पैदा हुई निराशा का ही परिणाम है कि आम तौर पर धरना स्थल पर सिर्फ 15 से 20 मज़दूर बैठे रहते हैं। अन्य मज़दूर अपने कमरों पर पड़े रहते हैं या घर चले गये हैं, या फिर अस्थायी मज़दूर कहीं और काम कर रहे हैं।

लगता है जैसे कि मैनेजमेण्ट और केन्द्रीय यूनियन का नेतृत्व दोनों ही इस इन्तज़ार में बैठे हैं कि मज़दूरों को इतना थका दिया जाये कि अन्त में वे फिर से समझौता करने के लिए मजबूर हो जायें। अगर ऐसा हुआ तो एक बार फिर हरसोरिया में पिछले साल की कहानी दोहरायी जायेगी।

मज़दूरों के शोषण-उत्पीड़न की यह सच्चाई उस कम्पनी की है जहाँ एच.एम.एस. पिछले लगभग तीन साल से काम कर रही है और जहाँ मज़दूरों की एक ट्रेड यूनियन भी पंजीकृत है। मज़दूरों के अधिकार लगातार छीने जा रहे है, मज़दूरों में असंतोष लगातार बढ़ रहा है, और एच.एम.एस., एटक, सीटू जैसी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें चुप्पी साधे रहती हैं। लेकिन जब मज़दूरों का दबाव ज़्यादा बढ़ जाता है, तब प्रतीकात्मक हड़तालों का सहारा लेकर मज़दूरों के गुस्से को शान्त करने की कोशिश करती हैं। बजाय इसके कि इन आन्दोलनों के माध्यम से वर्तमान व्यवस्था के मज़दूर और जन-विरोधी चरित्र का पर्दाफ़ाश करें और उन्हें व्यापक स्तर पर संगठित करने का प्रयास करें। गुड़गाँव में 20 कम्पनियों में एच.एम.एस. से जुड़ी यूनियनें हैं, जो कभी हरसोरिया जैसे आन्दोलन तो कभी एक दिन के प्रतीकात्मक विरोध जैसी कार्रवाइयाँ करके मज़दूरों के गुस्से पर पानी के छींटे मारने का काम कर रही हैं। अगर एच.एम.एस. अपने साथ जुड़ी सभी यूनियनों को भी मज़दूरों के साझा सवालों पर एक साथ कार्रवाई करने के लिए लामबन्द नहीं कर सकता तो व्यापक मज़दूर एकता के लिए उससे कुछ करने की उम्मीद करना भी बेकार है।

पिछले 2-3 साल पर नज़र डालें तो गुड़गाँव और आसपास के औद्योगिक इलाक़ों में मज़दूरों के आन्दोलनों और हड़तालों का सिलसिला कभी टूटा नहीं है। मगर यह भी सच है कि ऐसे लगभग सभी आन्दोलनों का अन्त किसी न किसी समझौते में हुआ जिसमें मज़दूरों को कुछ भी ख़ास हासिल नहीं हुआ और कई जगह तो नुकसान भी उठाना पड़ा। आख़िर इसकी वजह क्या है? कोई क्रान्तिकारी नेतृत्व और सही दिशा न होने के कारण ये सभी आन्दोलन पुलिस और मालिक के गुण्डों द्वारा मज़दूरों के दमन या क़ानूनी लड़ाई के लिए मज़दूरों द्वारा समझौता कर लेने के साथ समाप्त हो जाते हैं, और फिर मज़दूर सालों कोर्ट के चक्कर लगाते रहते हैं। सभी बड़ी यूनियनें लाखों की मेम्बरशिप का दावा करती हैं लेकिन जब मज़दूर हितों की सुरक्षा की बात आती है तो चन्द दिखावटी प्रोग्रामों के अलावा इनका कुछ पता नहीं चलता। दलाली और चन्दे की कमाई पर चाँदी काटने वाले इनके नेता मज़दूरों के हर जुझारू संघर्ष को किसी न किसी बेजान समझौते के गड्ढे में गिराने का मौका तलाशते रहते हैं। समझना मुश्किल नहीं है कि ये मज़दूरों के अगुवा हैं या मालिकों के मददगार। इनको किनारे लगाकर मज़दूरों की जुझारू क्रान्तिकारी यूनियनें खड़ी किये बिना मज़दूर अपने हक़ की लड़ाई में आगे नहीं बढ़ सकते।

हरसोरिया के मज़दूरों को यह समझना होगा कि पूँजी की एकजुट शक्ति का मुकाबला आज एक-एक कारख़ाने के मज़दूर अकेले-अकेले नहीं कर सकते। मज़दूरों को इलाक़ाई पैमाने पर, उद्योग के पूरे सेक्टर के पैमाने पर, विभिन्न तरीक़ों से व्यापक एकजुटता क़ायम करनी होगी। लड़ाई के पुराने घिसे-पिटे तरीक़ों से अब काम नहीं चलेगा। चुपचाप धरने पर बैठे रहने या हड़ताल करके वार्ता का इन्तज़ार करते रहने से कोई उनकी बात नहीं सुनेगा। मज़दूरों को लड़ाई के नये-नये तरीक़े निकालने होंगे और बहुत योजनाबद्ध ढंग से पूरी तैयारी के साथ लड़ना होगा।

– राजकुमार
(6 जून 2012)

हरसोरिया हेल्थकेयर में मज़दूरों की स्थिति : कुछ तथ्य

– 2003 से चल रही यह कम्पनी मुख्य रूप से चिकित्सा के उपकरण बनाती है जिनका निर्यात यूरोप, सिंगापुर और कोरिया में किया जाता है।

– कम्पनी का सालाना कारोबार लगभग 37 करोड़ रुपये है, जिसमें से 650 मज़दूरों को वेतन के रूप में सालाना सिर्फ 12 प्रतिशत (लगभग 4 करोड़) दिया जाता है।

– यहाँ 400 ठेका और 250 स्थाई मज़दूर हैं जो ज़्यादातर उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा और बंगाल के रहने वाले हैं।

– अप्रैल 2011 में कम्पनी में 203 कैजुअल मज़दूर थे जिन्हें सीधे कम्पनी ने काम पर रखा था। बाद में कम्पनी ने 143 कैजुअल मज़दूरों को ठेकेदारों के माध्यम से काम पर ट्रांसफर कर दिया जिनमें से 15 मज़दूर ठेकेदार के साथ कान्ट्रैक्ट करके काम पर चले गये लेकिन बचे हुए 128 मज़दूरों को सस्पेण्ड या निष्कासित कर दिया गया। ये सभी इस अवैध कार्रवाई के ख़िलाफ़ मुक़दमा लड़ रहे हैं।

– पिछले कुछ दिनों से मैनेजमेण्ट लगातार ठेका मज़दूरों को बढ़ा रहा है और स्थाई मज़दूरों को निकालने की कोशिश कर रहा है। स्थाई मज़दूरों का वेतन 8 घण्टे के काम के बदले 5600 से 6000 रु. और ठेका मज़दूरों का 4000 से 4600 रु. है।

– हर मज़दूर के लिए हर घण्टे लगभग 1000 से अधिक पीस बनाने का टार्गेट तय है। टार्गेट पूरा नहीं हो पाने पर उस दिन का वेतन काट लिया जाता है।

– पिछले साल कम्पनी ने पी.एफ़. और ई.एस.आई. का अपना हिस्सा जमा नहीं किया है जबकि मज़दूरों के वेतन से कटौती जारी है।

– पिछली हड़ताल के बाद मज़दूरों को दीवाली बोनस नहीं दिया गया। चार साल से ज़्यादा काम करने वाले मज़दूरों को दिया जाने वाला 1500 रु. का बोनस भी बन्द कर दिया गया है।

– कम्पनी ने दोपहर का खाना देना बन्द कर दिया है। काम के घण्टों से अलग चाय के लिए दो बार 15-15 मिनट का ब्रेक दिया जाता था जो अब ख़त्म कर दिया गया है।

– बढ़ती महँगाई के बावजूद वर्षों से मज़दूरों के वेतन में कोई भी वृद्धि नहीं की गई है।

माँगपत्रक शिक्षणमाला–11

स्वतन्त्र दिहाड़ी मज़दूरों से जुड़ी विशेष माँगें

मज़दूर माँगपत्रक–2011 की अन्य माँगों – न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे कम करने, ठेका के ख़ात्मे, काम की बेहतर तथा उचित स्थितियों की माँग, कार्यस्थल पर सुरक्षा और दुर्घटना की स्थिति में उचित मुआवज़ा, प्रवासी मज़दूरों के हितों की सुरक्षा, स्त्री मज़दूरों की माँगों, ग्रामीण व खेतिहर मज़दूरों की माँगों, घरेलू मज़दूरों की माँगों – के बारे में विस्तार से जानने के लिए 'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंक ज़रूर पढ़ें। पूरा माँगपत्रक इस वेबसाइट पर उपलब्ध है www.workerscharter.in –सम्पादक

देश में स्वतन्त्र दिहाड़ी मज़दूरों की बहुत बड़ी संख्या है जिनके पास कोई निश्चित काम नहीं होता। वे रोज़ चौराहों पर खड़े होकर काम की तलाश करते हैं या थोड़े-थोड़े दिनों तक कभी कोई तो कभी कोई काम करते रहते हैं। सभी शहरी इलाक़ों में "लेबर चौक" पर रोज़ खड़े होने वाले ऐसे मज़दूरों की कुल संख्या का कोई ब्योरा सरकार के पास भी नहीं है लेकिन इनकी संख्या दसियों लाख में है। ये किसी भी श्रम क़ानून के दायरे में नहीं आते और इनकी स्थिति बेहद असुरक्षित होती है। इनके काम के घण्टे, मज़दूरी, काम की परिस्थितियाँ कुछ भी तय नहीं होता। सबकुछ इनके श्रम को ख़रीदने वाले मालिक की मर्ज़ी पर होता है। अलग-अलग होने की वजह से इनकी मोलभाव करने की शक्ति भी बहुत कम होती है। काम पर दुर्घटनाओं या बीमारी की स्थिति में इन्हें कोई मुआवज़ा भी नहीं मिल पाता। अक्सर इन्हें दुर्व्यवहार और मार-पीट का भी सामना करना पड़ता है। किसी भी तरह की सामाजिक सुरक्षा से ये वंचित हैं। ट्रेड यूनियनें भी इनके सवालों को कभी नहीं उठाती हैं।

मज़दूर माँगपत्रक–2011 में ऐसे सभी मज़दूरों से जुड़ी विशेष माँगों को एक अलग शीर्षक के तहत रखकर प्रमुखता के साथ उठाया गया है। इसमें सबसे पहले यह माँग की गयी है कि चौराहों पर खड़े होकर काम तलाशने वाले स्वतन्त्र दिहाड़ी मज़दूरों के ज़िलाधिकारी कार्यालयों में पंजीकरण की केन्द्रीय श्रम मंत्रालय की विचाराधीन योजना को जल्द से जल्द अमली जामा पहनाया जाये और इसके दायरे में रिक्शा चलाने वाले, हाथ-ठेला व रिक्शा-ठेला चलाने वाले, लोडिंग-अनलोडिंग करने वाले सभी स्वतन्त्र दिहाड़ी मज़दूर भी लाये जायें। इन्हें पंजीकरण के बाद कार्ड जारी किये जायें जिसके आधार पर इन्हें सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का लाभ मिल सके। कार्यस्थल पर सुरक्षा और दुर्घटना की स्थिति में मुआवज़े आदि के लिए इन्हें भी ठेका मज़दूर क़ानून तथा वर्कमेन्स कम्पनसेशन ऐक्ट के दायरे में लाया जाये। पंजीकृत मज़दूरों के लिए वर्ष में न्यूनतम 200 दिन रोज़गार की गारण्टी करना सरकार की ज़िम्मेदारी होनी चाहिए।

इसकी दूसरी माँग यह है कि इन अलग-अलग स्वतन्त्र दिहाड़ी मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी तय की जाये जो 'राष्ट्रीय तल-स्तरीय न्यूनतम मज़दूरी' से ऊपर हो। इनके लिए भी आठ घण्टे के काम का दिन तय हो और उससे ऊपर काम कराने पर दुगनी दर से ओवरटाइम का भुगतान किया जाये। रिक्शेवालों, ठेलेवालों के लिए प्रति किलोमीटर न्यूनतम किराया भाड़ा व ढुलाई दरें तय की जायें तथा जीवन-निर्वाह सूचकांक के अनुसार इनकी प्रतिवर्ष समीक्षा की जाये व पुनर्निर्धारण किया जाये। इसके लिए राज्य सरकारों को आवश्यक श्रम क़ानून बनाने के लिए केन्द्र सरकार की ओर से दिशा-निर्देश जारी किये जायें। दिहाड़ी मज़दूरों से सम्बन्धित नियमों-क़ानूनों का अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए हर ज़िले में डी.एल.सी. कार्यालय में अलग से पर्याप्त संख्या में निरीक्षक होने चाहिए, जिनकी मदद के लिए निगरानी समितियाँ हों जिनमें दिहाड़ी मज़दूरों के प्रतिनिधि, मज़दूर संगठनों के प्रतिनिधि तथा जनवादी अधिकारों एवं श्रम अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए सक्रिय नागरिक एवं विधिवेत्ता शामिल किये जायें।

मज़दूर माँगपत्रक–2011 की माँग है कि दिहाड़ी मज़दूरों की सभी कल्याणकारी योजनाओं के लिए राज्यों में ऊपर से लेकर ज़िला स्तर तक 'दिहाड़ी मज़दूर कल्याण बोर्ड' बनाये जायें। इन योजनाओं के लिए उच्च आय वर्ग के लोगों पर, विलासिता की चीज़ों की ख़रीदारी, भवन-भूखण्ड की ख़रीद तथा हवाई यात्रा आदि पर सेस लगाये जायें। इनके लिए वृद्धावस्था पेंशन, बीमा, पी.एफ., ई.एस.आई. हेतु कोष बनाया जाये जिसमें मुख्य योगदान सरकार का हो और इन मज़दूरों से केवल टोकन राशि ही ली जाये।

"लेबर चौक" पर खड़े होने मज़दूरों को हर मौसम में घण्टों वहाँ खड़ा होकर इन्तज़ार करना पड़ता है। उन्हें आये दिन स्थानीय दुकानदारों या निवासियों का विरोध भी झेलना पड़ता है। इसलिए शहरों में (मुख्यत: चौराहों के निकट) स्थान निर्धारित करके स्वतन्त्र दिहाड़ी मज़दूरों के लिए और रिक्शा-ठेला वालों के लिए सुविधाजनक शेड बनाये जाने चाहिए जहाँ पीने के साफ़ पानी और शौचालय का भी प्रबन्ध हो। यह ज़िम्मेदारी हर शहर की नगरपालिका या नगर निगम द्वारा उठायी जानी चाहिये।

कड़वे बादाम : दिल्ली के बादाम उद्योग में मज़दूरों का शोषण

(पेज 6 से आगे)

हुए थे। पहले बादाम प्रसंस्करण का एक बड़ा केन्द्र शकरपुर था, वहाँ से करावलनगर इलाके में स्थानान्तरण आज से 10 साल पहले मज़दूरों की हड़ताल के कारण हुआ था। (इण्डियन एक्सप्रेस, 5 जनवरी 2010)

करावलनगर अधिकांश मेट्रो शहरों में तेज़ी से बढ़ते अनौपचारिक और बेहिसाब उत्पादन इकाइयों के जमघट का एक उदाहरण भर है। दिल्ली में खुद, ऐसे कई विशिष्ट केन्द्र हैं जहाँ कई बड़े उत्पादन घरानों, जिनमें कई जानी-मानी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भी शामिल हैं, के लिए पीस रेट पर काम कराया जाता है। इनमें इलेक्ट्रॉनिक गैजेट्स के सर्किट बनाने, कपड़ों की कटाई और सिलाई से लेकर, चमड़े के सामानों का उत्पादन आदि शामिल हैं।

उत्पादन के विभिन्न स्तरों के बीच बनने वाले सम्बन्ध बहुत कमज़ोर हैं और कभी भी टूट सकते हैं। उत्पादन और वितरण में लगे मज़दूरों की भलाई के लिए उत्पादकों या ग्राहकों की कोई जवाबदेही नहीं होती। अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत अधिकांश मज़दूर अपनी इच्छा से नहीं बल्कि खुद को ज़िन्दा भर रखने के लिए काम करते हैं। जब इस तथाकथित 'अनौपचारिक' क्षेत्र में इतनी बड़ी संख्या में मज़दूर काम करते हैं तो राज्य इसे केवल 'अनौपचारिक', 'असंगठित' श्रेणी में डालकर इनकी परेशानियों के प्रति अपनी आँखें कैसे बन्द कर सकता है?

श्रम विभाग और सरकार द्वारा इन मज़दूरों के हितों की रक्षा के लिए फैक्टरी ऐक्ट के प्रावधानों का इस्तेमाल न करना, राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव का परिचायक है। इससे भी श्रमिकों के अनौपचारिकीकरण को बढ़ावा मिलता है। इस प्रकार मज़दूरों द्वारा लम्बे संघर्षों से अर्जित संस्थागत सुरक्षा, जो कि फैक्टरी ऐक्ट और इसके कई संशोधनों के रूप में सामने आयी, अब तेजी से ख़त्म की जा रही है। ऐसा लग रहा है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मज़दूरों की एक भारी संख्या को बाज़ार की सनक और उतार-चढ़ाव के हवाले किये बिना तथा व्यापारियों, ठेकेदारों आदि, जो कि वर्तमान व्यवस्था में मज़दूरों की कीमत पर मुनाफा कमाते हैं, के बिना क़ायम नहीं रह सकती। यहाँ यह देखना दिलचस्प है कि फैक्टरी ऐक्ट विशेष रूप से राज्य सरकारों को इस ऐक्ट के प्रावधानों को अन्य तरह की उत्पादन इकाइयों में लागू करवाने का अधिकार देता है। इन प्रावधानों के ऐसे उपयोग का एक उदाहरण है केरल में काजू उत्पादन का उद्योग (देखें बॉक्स: काजू बनाम बादाम)। केरल में काजू उद्योग में न्यूनतम मज़दूरी का क़ानून लागू होता है, जिसका मुख्य कारण यह है कि राज्य के अधिकांश मज़दूर यूनियनों में मज़बूती से संगठित हैं, इसलिए समय-समय पर राज्य सरकार से काम की बेहतर परिस्थितियों की माँग करने में सफल रहे हैं। लेकिन दिल्ली में परिस्थिति काफी अलग है। शहर में आने वाले प्रवासी मज़दूरों की तरफ राज्य सरकार पूरी तरह से अन्धी बनी रहती है।

असंगठित क्षेत्र की परेशानियों के प्रति ऐसी उदासीनता गरीबों और उनके श्रम को और अधिक हाशिये पर धकेल देती है जिसके बिना कोई अर्थव्यवस्था टिकी नहीं रह सकती।

इसलिए पी.यू.डी.आर. माँग करता है कि:

1. दिल्ली और साथ ही साथ केन्द्र सरकार उचित संशोधनों द्वारा इन बादाम प्रसंस्करण इकाइयों को अनुसूचित उद्योगों के अन्तर्गत लाये, ताकि इनमें फैक्टरी ऐक्ट 1948 और न्यूनतम मज़दूरी क़ानून 1948 लागू हो सकें।

2. इन इकाइयों में काम करने वाले मज़दूरों की मज़दूरी को दिल्ली में अकुशल और अर्द्ध-कुशल मज़दूरों के लिए निर्धारित मज़दूरी के बराबर स्तर पर लाया जाये। ऐसा न करने पर ठेकेदारों और खारी बावली के व्यापारियों को मज़दूरों के सम्मान के साथ जीवन जीने के बुनियादी अधिकार के उल्लंघन का दोषी माना जाये और उनके ख़िलाफ़ क़ानूनी कार्रवाई की जाये।

3. श्रम विभाग को अनिवार्य रूप से यह सुनिश्चित करने के लिए हस्तक्षेप करना चाहिए कि ठेकेदार पंजीकृत हों और मज़दूर कल्याण और सुरक्षा उपायों के अन्तर्गत आयें। काम से सम्बन्धित स्वास्थ्य समस्याओं के लिए विशेष उपाय उपलब्ध कराये जायें।

4. ठेकेदारों को प्रसंस्करण कार्य में लगे मज़दूरों के लिए पहचान कार्ड, वेतन स्लिप और मस्टर रोल की व्यवस्था करने का निर्देश दिया जाये, क्योंकि मज़दूर अपने क़ानूनी अधिकारों को पाने के लिए रोज़गार के प्रमाण के रूप में इन चीज़ों का इस्तेमाल कर सकते हैं।

अंग्रेज़ी से अनुवाद: प्रशान्त

काजू बनाम बादाम: मज़दूरी की दो विपरीत कहानियां

बादाम और काजू दोनों ही सूखे मेवे के बाज़ार के सबसे महँगे उत्पाद हैं। काजू और बादाम दोनों ही उद्यमों में काम करने वाले मज़दूरों में लगभग 85 से 90 प्रतिशत महिलाएँ हैं।

दिल्ली के बादाम मज़दूरों को प्रति कट्टे के हिसाब से भुगतान होता है और इसीलिए वे अकुशल मज़दूरों को मिलने वाली न्यूनतम मज़दूरी तक हासिल नहीं कर पाते हैं। इसके विपरीत केरल में काजू के व्यवसाय में लगे मज़दूर, यदि पीस रेट के आधार पर भी जोड़ें तो प्रति दिन 200-240 रुपये से कम नहीं कमाते हैं।

राज्य सरकार के नियमों के हिसाब से, काजू के व्यवसाय में काम करने वाले मज़दूरों को मिलने वाली मज़दूरी इस प्रकार है; खोल उतारना और काटना – खोल हटाने का 22.36 रुपये प्रति किलो, पूरे काजू और बाहरी छिलका छीलने के लिए 28.44 रुपये प्रति किलो, छिलने के बाद टूटे काजू को अलग करने के लिए 19.54 रुपये प्रति किलो।

केरल में काजू के व्यवसाय में लगे मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी तय कर दी गयी हैं: गारडर (कार्य पद): 180 रुपये, टिन भरने वाला: 185 रुपये, शारीरिक श्रम (मैकादू) छोटे-छोटे कणों को साफ करने में, फटकन को छीलने, खराब हिस्सों को हटाने और काजू को पृथक करने में: 185 रुपये, मैकादू (सामान्य): 200 रुपये, स्टेनसीलॉर: 200 रुपये, सिर पर सामान ढोने वाला मज़दूर (लोडिंग और अनलोडिंग): 225 रुपये, फायरमैन: 225 रुपये, भिगोने और छँटाई करने वाला: 200 रुपये, और तेल निष्कर्षण और तेल बहिष्कारित्र: 200 रुपये प्रति दिन। इसके अलावा दिहाड़ी और पीस रेट पर काम करने वाले मज़दूरों को केरल सरकार द्वारा तय नियमों के अनुसार प्रति दिन के काम के लिए न्यूनतम मज़दूरी के साथ महँगाई भत्ता भी मिलता है।

फ्रांस: होलान्दे की जीत सरकोज़ी की नग्न अमीरपरस्त और साम्राज्यवादी नीतियों के ख़िलाफ़ जनता की नफ़रत का नतीजा है, समाजवाद की जीत नहीं

मई के पहले सप्ताह में फ्रांस के राष्ट्रपति चुनाव के दूसरे चक्र के ख़त्म होने के साथ ही फ्रांस को नया राष्ट्रपति मिल गया। पिछले पाँच वर्ष से फ्रांस के राष्ट्रपति रहे निकोलस सरकोज़ी कीहार वास्तव में फ्रांस्वा होलान्दे की जीत नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में और विशेषकर आर्थिक मन्दी की शुरुआत के बाद से निकोलस सरकोज़ी की आर्थिक और राजनीतिक नीतियों, बयानों और अन्तरराष्ट्रीय नीतियों से जनता इतनी बुरी तरह नाराज़ थी कि उसे किसी भी कीमत पर सरकोज़ी से छुटकारा पाना था। सरकोज़ी के बरक्स कोई भी ऐसा उम्मीदवार खड़ा होता जो किसी दक्षिणपंथी या रूढ़िवादी पार्टी से न होता तो वह जीत ही जाता। सरकोज़ी एक सर्वेक्षण के अनुसार 1958 से लेकर अब तक फ्रांस के सबसे अलोकप्रिय राष्ट्रपति सिद्ध हुए हैं। इसका कारण था सरकोज़ी का अमीर वर्गों के प्रति खुला प्रेम और स्नेह, जो कि उनके इस विचार से पैदा होता था कि समाज में जो सक्षम होते हैं वे अमीर हो जाते हैं और इस प्रतिस्पर्द्धा में वे लोग पिछड़कर नीचे चले जाते हैं और दरिद्र हो जाते हैं, जो अक्षम होते हैं! सरकोज़ी द्वारा सीरिया, ईरान और अफ़गानिस्तान के मसले पर अमेरिका का समर्थन करना और न सिर्फ़ साम्राज्यवादी युद्धों को राजनीतिक समर्थन देना बल्कि अफगानिस्तान में फ्रांसीसी सैन्य मौजूदगी को बढ़ाना, फ्रांसीसी जनता को नागवार गुज़रा था। सरकोज़ी ने जर्मनी की चांसलर एंजेला मरकेल के साथ मिलकर पूरे यूरोज़ोन पर जो "मितव्ययिता की नीति" थोप रखी थी (जिसका मतलब था कि जनता अपने ख़र्चों में कटौती करे ताकि अमीरों की ऐयाशी और बैंकों और दलालों की सट्टेबाज़ी के लिए पैसों की कमी न रहे) उसके कारण पूरे यूरोप की मेहनतकश जनता को भारी परेशानी, कटौतियाँ, बेरोज़गारी और सामाजिक-आर्थिक अनिश्चितता झेलनी पड़ रही थी। "मरकोज़ी" (मरकेल+सरकोज़ी) की इन नीतियों का मकसद था जनता की कीमत पर वित्तीय पूँजी को बचाना और अमीर वर्गों को संरक्षण देना। खुलेआम इन नीतियों को लागू करने और अमीर वर्गों के प्रति अपने प्रेम के सार्वजनिक प्रदर्शन की कीमत सरकोज़ी को चुनाव में हार से चुकानी पड़ी।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि फ्रांस की सामाजिक जनवादी पार्टी पार्ते सोशलिस्ते के फ्रांस्वा होलान्दे को जनता पसन्द करती है। अगर ऐसा होता तो सरकोज़ी और होलान्दे की जीत के बीच लगभग दो प्रतिशत का मामूली-सा अन्तर नहीं होता। वास्तव में, होलान्दे की जीत फ्रांस की पूँजीवादी राजनीति में विकल्पहीनता की स्थिति को दिखलाती है। जनता किसी भी कीमत पर सरकोज़ी से छुटकारा पाना चाहती थी, इसलिए उसने होलान्दे को वोट दिया हालाँकि कुछ नादान लोगों को छोड़ दिया जाये तो सभी जानते थे कि होलान्दे किसी भी रूप में सरकोज़ी से अलग किस्म की आर्थिक नीतियाँ लागू करने वाले नहीं हैं। चुनाव प्रचार के पहले दौर में होलान्दे ने कुछ ऐसी बातें कहीं थीं, जिससे कि फ्रांस की जनता को यह ग़लतफ़हमी हो जाये कि वह सरकोज़ी की जनविरोधी आर्थिक नीतियों को छोड़ने जा रहे हैं। मिसाल के तौर पर, होलान्दे ने एक साक्षात्कार में कहा कि "वित्त पूँजी उनकी सबसे बड़ी दुश्मन है"। लेकिन ठीक उसी समय होलान्दे ने ब्रिटिश अख़बार द गार्डियन को दिये एक बयान में कहा, "हम समाजवादी इससे पहले 15 वर्ष लगातार सत्ता में थे जब हमने अर्थव्यवस्था का उदारीकरण किया, वित्तीय पूँजी और निजीकरण के लिए पूरी फ्रांसीसी अर्थव्यवस्था को खोल दिया था। इसलिए (बैंकों और वित्तीय पूँजी को) हमसे डरने की कोई ज़रूरत नहीं है।" होलान्दे ने अपनी विजय पर कहा कि "यूरोप के लिए मितव्ययिता की नीतियाँ एकमात्र विकल्प नहीं हैं।" साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि वह फ्रांस के सबसे अमीर वर्गों पर 75 प्रतिशत तक के कर लगायेंगे। लेकिन जब होलान्दे जनता को ये गुलाबी सपने दिखा रहे थे, ठीक उसी समय वह वित्तीय पूँजी के सरदारों और कारपोरेट पूँजीपति वर्ग से क्या कह रहे थे? इंटरनेशनल हेराल्ड ट्रिब्यून ने समाचार एजेंसी 'रायटर' को भेजी गयी होलान्दे की विज्ञप्ति के आधार पर लिखा, "बैंकों, वित्तीय संस्थानों और हेज फण्डों को होलान्दे के चुने जाने के साथ पेरिस से भागने की कोई ज़रूरत नहीं है... वास्तव में, होलान्दे जिन सुधारों का प्रस्ताव रख रहे हैं वे कोई ख़ास डरावने नहीं हैं, और जो थोड़ा-बहुत डरावने हैं, उन्हें लेकर होलान्दे स्वयं गम्भीर नहीं हैं।" वित्तीय पूँजी के सरदारों को अच्छी तरह से पता है कि होलान्दे चुनाव प्रचार में जो लोकरंजकतावादी बयानबाज़ी कर रहे थे, उसका मकसद महज़ सरकोज़ी से अलग दिखना और जनता का भरोसा जीतना था। वे भी जानते थे कि मौजूदा आर्थिक और राजनीतिक तन्त्र के ढाँचे को आमूलचूल बदले बग़ैर चुनाव और सरकारी सुधार के रास्ते जनता को कुछ भी नहीं दिया जा सकता है और न ही वित्तीय पूँजी से कुछ लिया जा सकता है। इसलिए बैंकों आदि को होलान्दे से कोई डर नहीं था।

जीत के बाद होलान्दे के बयानों ने वित्तीय पूँजी और कारपोरेट पूँजीपतियों के इस भरोसे को सही साबित किया है। होलान्दे इस समय एक ऑडिट करने वाले निकाय कुआ दे कॉम्प्ते की रिपोर्ट के आधार पर जनता को यह यक़ीन दिलाने में लगे हैं कि बजट घाटे को कम करने के लिए उनके पास सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में कटौती करने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। यानी कि शिक्षा, स्वास्थ्य, बेरोज़गारी भत्ते, बुज़ुर्ग पेंशन जैसे मदों में जो सरकारी ख़र्च होता है उसमें कटौती की जायेगी। इसके अलावा, उन्होंने साम्राज्यवादी युद्धों में लगी फ्रांसीसी सेनाओं को वापस बुलाने के वायदे को भी कचरा पेटी के हवाले कर दिया है। अतिधनिक वर्गों पर जो 75 प्रतिशत कर लगाने का वायदा होलान्दे ने किया था, उसके बारे में अभी हाल ही में खुलासा हुआ है कि उस दायरे में पूरे फ्रांस की आबादी के महज़ 3000 लोग आयेंगे! साफ़ है, कि होलान्दे चुनावों में विजय के साथ ही अपने अधिकांश वायदों से पलट चुके हैं। अधिक शिक्षकों की भर्ती, स्कूल शिक्षा को सब्सिडी आदि जैसी कुछ शर्तें हैं जिन पर होलान्दे अभी भी टिके हुए हैं। लेकिन मुख्य केन्द्रीय वायदे जो कि उन्हें सरकोज़ी से अलग दिखाते थे, अब ठण्डे बस्ते में डाले जा चुके हैं। फ्रांसीसी जनता को भी होलान्दे से ज़्यादा उम्मीदें नहीं थीं, लेकिन यह सारा काम इतनी बेशर्मी से किया जायेगा, शायद इसकी अपेक्षा भी उन्होंने नहीं की होगी।

फ्रांस में सामाजिक जनवादियों की जीत वास्तव में पूँजीवाद के संकट का एक परिणाम है। विश्व पूँजीवाद मन्दी के जिस भँवर में फँसा हुआ है उसकी कुछ राजनीतिक क़ीमत तो उसे चुकानी ही थी। नवउदारवादी नीतियों का खुले तौर पर पालन करने वाली पार्टियाँ अलग-अलग देशों में चुनावों में हार रही हैं। यूनान में भी एक वामपंथी गठबन्धन ने चुनावों में प्रभावी प्रदर्शन किया। संकट के शुरू होने के बाद से यूरोप में 11 सरकारें बदल चुकी हैं। कुछ चुनाव के ज़रिये और कुछ शासक वर्ग के अलग-अलग धड़ों के बीच गठबन्धन के ज़रिये। आर्थिक संकट का पूरा बोझ पूँजीपति वर्ग जनता पर डाल रहा है। यह आर्थिक संकट बैंकों की सट्टेबाज़ी और जुआबाज़ी के कारण पैदा हुआ था। जब बैंकों के दिवालिया होने की हालत हुई तो वित्तीय इजारेदार पूँजी के इशारों पर चलने वाली सरकारों ने जनता के पैसों से बैंकों को बचाया। और जब सरकारी ख़ज़ाने में सरकारी कर्मचारियों को वेतन देने लायक पैसे की भी कमी पड़ने लगी तो फिर तमाम सरकारी कल्याणकारी नीतियों, सामाजिक सुरक्षा योजनाओं, शिक्षा, चिकित्सा, रोज़गार आदि के मद में कटौती की जाने लगी। मेहनतकश जनता समाज की सारी ज़रूरतों को पूरा करती है, सारे सामान बनाती है, सारी समृद्धि पैदा करती है और उस समृद्धि को संचित करने वाला पूँजीपति वर्ग जब अपने ही अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता के संकट का शिकार हो जाता है तो उस संकट का बोझ मेहनतकश जनता पर डाल दिया जाता है और उसको बताया जाता है कि यह "राष्ट्रीय संकट" है और उन्हें अपनी "देशभक्ति" का प्रमाण देने के लिए पेट पर पट्टी बाँध लेनी चाहिए! इस समय पूरे यूरोप में यही हो रहा है। बताने की ज़रूरत नहीं है कि पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर और कुछ हो भी नहीं सकता था। और पूँजीवादी चुनावों के रास्ते इस पूरी व्यवस्था को तहस-नहस कर समाजवादी व्यवस्था का निर्माण नहीं हो सकता है, जैसा कि दुनिया के सभी देशों में सामाजिक जनवादी दावा करते हैं। मिसाल के तौर पर, होलान्दे ने एक जगह कहा है कि समाजवाद का अर्थ उनके लिए यह है कि पूँजीवाद को लोकहित की सेवा में लगाया जाय! यह कितना बड़ा फ़रेब है, हम सभी समझते हैं। पूँजीवाद इसीलिए तो 'पूँजीवाद' है कि वह जनता के हितों की सेवा में लग ही नहीं सकता; वह सिर्फ़ जनता को लूट और निचोड़कर पूँजी के हितों की सेवा कर सकता है। हमारे देश में माकपा और भाकपा जैसे सामाजिक जनवादी भी इसी किस्म की बातें करके मेहनतकश जनता को बरगलाने की कोशिश करते हैं और पूरी दुनिया में सामाजिक जनवादियों की यही फ़ितरत है।पूँजीवादी संकट के राजनीतिक नतीजे के तौर पर फ़िलहाल सामाजिक जनवादी पार्टियाँ कई यूरोपीय देशों में सत्ता में आ रही हैं; तार्किक रूप से इसका अगला चरण दक्षिणपंथी फ़ासीवादी ताक़तों के नाम होने वाला है। मौजूदा चुनावों में भी फ़ासीवादी ताक़तों का प्रदर्शन पहले से बेहतर हुआ है। जिन-जिन देशों में सामाजिक जनवादी सत्ता में आ रहे हैं, जैसे कि फ्रांस, उन सभी देशों में वे वित्तीय पूँजी की चाकरी जारी रखेंगे और यह संकट को और अधिक गहरा बनायेगा। नतीजतन, फिर से सरकारें गिरेंगी और विकल्पहीनता की स्थिति में फ़ासीवादी ताक़तें सत्ता में पहुँचेंगी।

मज़दूर वर्ग को यह समझना होगा कि मौजूदा संकट से निजात पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर कोई भी चुनावी पार्टी नहीं दिला सकती है। इस कुचक्र से बाहर निकलने का सिर्फ़ एक रास्ता है–समाजवाद और मज़दूर सत्ता। समाजवाद के निर्माण का कोई शान्तिपूर्ण संक्रमण वाला रास्ता नहीं है। एक नयी समाजवादी व्यवस्था के निर्माण का सवाल मज़दूर क्रान्ति का सवाल है, क्योंकि मौजूदा समाज के सम्पत्ति सम्बन्धों, उत्पादन सम्बन्धों और वितरण के सम्बन्धों को बदले बग़ैर समाजवादी व्यवस्था की बात करना बेकार है। यानी, सभी कल-कारख़ानों, खानों-खदानों को मज़दूरों के समूहों के हाथ में सौंपना और सारे खेतों को किसानों के समूहों के हाथ में सौंपना; यानी, सभी उत्पादन के साधनों का स्वामी मज़दूर वर्ग को बनाना; इसके बग़ैर समाजवाद की कोई भी बात बकवास है। और ऐसा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इस पूरे सामाजिक-आर्थिक ढाँचे की बलपूर्वक हिफ़ाज़त करने वाली पूँजीवादी राजसत्ता को चकनाचूर न किया जाये। जैसा कि लेनिन ने कहा था, क्रान्ति का प्रश्न राजसत्ता का प्रश्न है और पूँजीवादी राजसत्ता को चकनाचूर किये बिना मज़दूर राज्य की स्थापना नहीं हो सकती है। और इसीलिए चुनावों के रास्ते ऐसा होना सम्भव नहीं है। ऐसे मज़दूर इंक़लाब के लिए क्रान्तिकारी विचारधारा, सही कार्यक्रम और सही रणनीति तथा आम रणकौशल से लैस मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी की ज़रूरत है। सामाजिक जनवादी पार्टी चाहे भारत की हो या फ्रांस की, उसका मक़सद समाजवाद का नाम लेते हुए पूँजीवाद की सेवा करना है। ये पार्टियाँ संकट के दौर में और ठेठ पूँजीवादी पार्टियों के बेनक़ाब हो जाने और विश्वास खो देने के दौर में पूँजीवादी व्यवस्था की हिफ़ाज़त करती हैं, जैसा कि पार्ते सोशलिस्ते होलान्दे के नेतृत्व में इस समय फ्रांस में कर रही है। सामाजिक जनवाद पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति का काम करता रहा है और आज भी कर रहा है। फ्रांस की मेहनतकश जनता भी इस बात को समझ रही है। लेकिन उसके सामने विकल्पहीनता की स्थिति है। जब तक एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण नहीं होता, फ्रांसीसी मज़दूर वर्ग की राजनीति पराजय और विपर्यय की स्थिति में ही रहेगी।

– शिशिर

...कोई समानता तब तक नहीं हो सकती, यहां तक कि राजनीति में और कानून के समक्ष भी नहीं, जबतक कि आर्थिक शक्ति में असमानता मुँह बाये बरकरार रहेगी; जबतक कि सत्ताधारी वर्ग मज़दूरों के रोज़गार पर, देश के प्रेस और स्कूलों पर तथा जनमत तैयार करने और अभिव्यक्त करने के सभी साधनों पर अपना अधिकार जमाये रखेगा, जबतक कि यह सभी प्रशिक्षित सार्वजनिक कार्यकारी निकायों पर अपना एकाधिकार बनाये रखेगा, और चुनावों को प्रभावित करने के लिए बेशुमार धन खर्च करता रहेगा, जबतक कि क़ानून सत्ताधारी वर्ग द्वारा बनाये जाते रहेंगे और अदालतों में इसी वर्ग के सदस्य अध्यक्षता करते रहेंगे, जबतक वकील प्राइवेट प्रैक्टिशनर बने रहेंगे और अपनी विधि विशेषज्ञता का कौशल सबसे अधिक फ़ीस देने वाले को बेचते रहेंगे, तथा अदालती कार्रवाई तकनीकी और महँगी बनी रहेगी, तब तक कानून के समक्ष यह नाममात्र की समानता भी एक खोखला मजाक ही बनी रहेगी। ...एक पूँजीवादी व्यवस्था में, जनतन्त्र की पूरी मशीनरी बहुसंख्यक मज़दूर वर्ग को पीड़ित कर, सत्ताधारी अल्पसंख्यक वर्ग को सत्ता में बनाये रखने का काम करती है, और जब बुर्जुआ सरकार को जनतान्त्रिक संस्थाओं से ख़तरा महसूस होता है, तब ऐसी संस्थाओं को अक्सर बड़ी बेरहमी के साथ कुचल दिया जाता है।

– भगतसिंह की जेल नोटबुक से

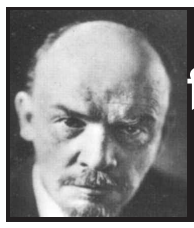

महान शिक्षकों की क़लम से

क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों से मज़दूर का वार्तालाप
सज्जनो, स्वयंस्फूर्ति की पूजा थोड़ी कम कीजिए और ख़ुद अपनी क्रियाशीलता को बढ़ाने की चिन्ता ज़्यादा कीजिये!

लेनिन

हमारे "अर्थवादियों" को, जिनमे राबोचेये देलो भी शामिल है, सफलता इसलिए मिली कि उन्होंने अपने को पिछड़े हुए मज़दूरों के अनुसार ढाल लिया था। लेकिन ऐसी माँगो के लिए लड़ने की इन तमाम बातों को, जिनमें कि "कोई ठोस नतीजे निकलने की उम्मीद", आदि हो, सामाजिक-जनवादी मज़दूर, क्रान्तिकारी मज़दूर (और ऐसे मज़दूरों की संख्या बढ़ रही है) क्रोध के साथ ठुकरा देगा, क्योंकि वह समझेगा कि वह रूबल में एक कोपेक की बढ़ोत्तरी के पुराने राग का ही एक नया संस्करण है। ऐसा मज़दूर राबोचाया मीस्ल तथा राबोचेये देलो के अपने सलाहकारों से कहेगा: सज्जनो, आप लोग एक ऐसे काम में हद से ज्यादा जोश-ख़रोश के साथ दखल देकर, जिसे हम खुद बखूबी कर सकते हैं, अपना अमूल्य समय बेकार में नष्ट कर रहे हैं, और जो काम आपको सचमुच करना चाहिए, उसे आप नहीं कर रहे हैं। आपने यह कहकर कोई बड़ी होशियारी की बात नहीं कही है कि सामाजिक-जनवादियों का कार्यभार आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देना है। यह तो केवल पहला कदम है, यह सामाजिक-जनवादियों का मुख्य कार्यभार नहीं है, क्योंकि दुनिया भर में और रूस में भी आर्थिक संघर्ष को राजनीतिक रूप देने की शुरुआत तो अकसर खुद पुलिस ही कर देती है, और उससे मज़दूर खुद इस बात को समझना सीखते हैं कि सरकार किसके पक्ष में है।* "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूरों के जिस आर्थिक संघर्ष" का आप लोग इतना शोर मचा रहे हैं, उससे ऐसा लगता है, मानो आपने किसी नये अमरीका को खोज निकाला हो, वैसा संघर्ष इस समय रूस के अनेक दूरस्थ स्थानों में स्वयं मज़दूरों द्वारा चलाया जा रहा है, जिन्होंने हड़तालों का तो नाम सुना है, पर समाजवाद के बारे में लगभग कुछ नहीं सुना है। ऐसी ठोस माँगें उठाकर, जिनसे कोई ठोस नतीजे निकालने की उम्मीद हो, आप हम मज़दूरों में जो "क्रियाशीलता" उत्प्रेरित करना चाहते हैं, उसका परिचय तो हम आज भी दे रहे हैं, अपने रोज़मर्रा के व्यवसायगत छोटे-मोटे कामों में हम स्वयं ये ठोस माँगें पेश कर रहे हैं, बहुधा बुद्धिजीवी की किसी भी सहायता के बिना। परन्तु यही क्रियाशीलता हमारे लिए काफ़ी नहीं है। हम बच्चे नहीं हैं कि केवल "आर्थिक" राजनीतिक की पतली लपसी से ही सन्तुष्ट हो जायें; हम तो हर वह चीज़ जानता चाहते हैं, जो दूसरे लोग जानते हैं, हम राजनीतिक जीवन के तमाम पहलुओं को विस्तार से समझना और प्रत्येक राजनीतिक घटना में सक्रिय भाग लेना चाहते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि बुद्धिजीवी लोग हमें वे बातें कम बतायें, जो हम पहले से जानते हैं,** और वे बातें ज़्यादा बतायें, जो हम अभी नहीं जानते और जो हम अपने कारख़ाने के और "आर्थिक" अनुभव से कभी नहीं सीख सकते, मतलब यह कि आप लोग हमें राजनीतिक ज्ञान दीजिये। आप, बुद्धिजीवी लोग, यह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उससे सौ गुनी और हज़ार गुनी अधिक मात्रा में यह ज्ञान आप हमें दें; और आप यह ज्ञान हमें केवल उन दलीलों, पुस्तिकाओं और लेखों के रूप में ही न दें (जो अकसर काफी नीरस होते हैं–हमे स्पष्टवादिता के लिए माफ़ करें!) बल्कि हमारी सरकार और हमारे शासक वर्ग जीवन के तमाम क्षेत्रों में इस समय जो कुछ कर रहे हैं, उसका सजीव भण्डाफोड़ करते हुए आप हमें यह ज्ञान दें। अपनी इस ज़िम्मेदारी को पूरा करने में थोड़ा और जोश दिखाइये और "आम मज़दूरों की क्रियाशीलता को बढ़ाने" की बातें थोड़ी कम कीजिये। आप जितना समझे हैं, हम उससे कहीं अधिक क्रियाशील हैं और हम उन माँगों तक के लिए सड़कों पर खुलेआम लड़ने में समर्थ हैं, जिनमें कोई "ठोस नतीजे" निकलने की उम्मीद नहीं है! और हमारी क्रियाशील को "बढ़ाना" आपका काम नहीं है, क्योंकि आप में तो खुद क्रियाशीलता ही का अभाव है। सज्जनो, स्वयंस्फूर्ति की पूजा थोड़ी कम कीजिये और खुद अपनी क्रियाशीलता को बढ़ाने की चिन्ता ज़्यादा कीजिये!

फुटनोट

* "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" की माँग राजनीतिक कार्य के क्षेत्र में स्वयंस्फूर्ति की पूजा करने की प्रवृत्ति को सबसे स्पष्ट रूप में व्यक्त करती है। बहुधा आर्थिक संघर्ष स्वयंस्फूर्त ढंग से, अर्थात "क्रान्तिकारी कीटाणुओं, यानी बुद्धिजीवियों" के हस्तक्षेप के बिना ही, वर्ग-चेतन सामाजिक-जनवादियों के हस्तक्षेप के बिना ही, राजनीतिक रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए, समाजवादियों के कोई हस्तक्षेप न करने पर भी ब्रिटिश मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष ने राजनीतिक रूप धारण कर लिया। लेकिन सामाजिक-जनवादियों का कार्यभार यहीं ख़त्म नहीं हो जाता कि वे आर्थिक आधार पर राजनीतिक आन्दोलन करें; उनका कार्यभार इस ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति को सामाजिक-जनवादी राजनीतिक संघर्ष में बदलना और आर्थिक संघर्ष से मज़दूरों में राजनीतिक चेतना की जो चिंगारियाँ पैदा होती हैं, उनका इस्तेमाल इस मकसद से करना है कि मज़दूर को सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना के स्तर पर उठाया जा सके। किन्तु मार्तीनोव जैसे लोग मज़दूरों की अपनेआप उठती हुई राजनीतिक चेनता को और ऊपर उठाने तथा बढ़ाने जाने के बजाय स्वयंस्फूर्ति के सामने शीश झुकाते हैं और उबा देने की हद तक बार-बार यही बात दोहराते रहते हैं कि आर्थिक संघर्ष मज़दूरों को अपने राजनीतिक अधिकारों के अभाव के बारे में सोचने की "प्रेरणा देता है"। सज्जनो, यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अपनेआप उठती हुई ट्रेड-यूनियनवादी राजनीतिक चेतना आपको यह प्रेरणा नहीं दे पाती कि सामाजिक-जनवादी होने के नाते आपके क्या कार्यभार हैं।

** यह साबित करने के लिए कि "अर्थवादियों" से मज़दूरों का यह काल्पनिक वार्तालाप सत्य पर आधारित है, हम दो ऐसे गवाहों का हवाला देंगे, जिन्हें असन्दिग्ध रूप में मज़दूर आन्दोलन का प्रत्यक्ष अनुभव है और जिन पर हम "मतवादियों" का पक्ष लेने का सबसे कम सन्देह किया जा सकता है क्योंकि उनमें से एक गवाह तो एक "अर्थवादी" हैं (जो राबोचेये देलो को भी एक राजनीतिक मुखपत्र समझते हैं!) और दूसरे गवाह एक आतंकवादी हैं। पहले गवाह ने एक बहुत ही सच्चा और सजीव लेख लिखा है जिसका शीर्षक है पीटर्सबर्ग का मज़दूर आन्दोलन और सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के व्यावहारिक कार्यभार और जो राबोचेये देलो के अंक 6 में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने मज़दूरों को तीन श्रेणियों में बाँटा है : (1) वर्ग-चेतन क्रान्तिकारी (2) बीच का स्तर और (3) बाकी सब। उनका कहना है कि बीच के इस स्तर को "अक्सर अपने उन आर्थिक हितों की अपेक्षा राजनीतिक जीवन के मसलों में कहीं ज़्यादा दिलचस्पी होती है, जिनका आम सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्ध बहुत पहले से समझ लिया गया है"... राबोचाया मीस्ल की "सख्त आलोचना की गयी है": वह सदा उन्हीं बातों को बार-बार दुहराता रहता है, जिनके बारे में हम बहुत दिन पहले जानकारी प्राप्त कर चुके हैं, जिनके विषय में हम बहुत पहले पढ़ चुके हैं", "राजनीतिक समीक्षा में फिर कुछ नहीं है" (पृ. 30-21)। लेकिन तीसरा स्तर भी: "अपेक्षाकृत युवा और अधिक संवेदनशील मज़दूर, जिनको शराबखाना और गिरजाघर अभी कम भ्रष्ट कर पाये हैं, जिन्हें शायद ही कभी कोई राजनीतिक साहित्य पाने का मौक़ा मिलता है, कुछ अस्पष्ट ढंग से राजनीतिक घटनाओं के बारे में बहस करते हैं और विद्यार्थी उपद्रवों की उन्हें जो भी थोड़ी-बहुत ख़बरें मिल जाती हैं, उन पर विचार करते हैं" आदि। आतंकवादी लिखते हैं: "...अपने शहर के तो नहीं, पर दूसरे शहरों के कारख़ानों की ज़िन्दगी की छोटी-छोटी बातों को वे एकाध बार पढ़ लेते हैं और फिर उन्हें नहीं पढ़ते...ये बातें उन्हें नीरस लगती हैं...मज़दूरों के किसी अख़बार में राज्यसत्ता के बारे में कुछ न कहना...मज़दूरों को छोटा बच्चा समझना है...मज़दूर दुधमुँहे बच्चे नहीं हैं "Lokscksnk क्रान्तिकारी-समाजवादी दल द्वारा प्रकाशित, पृ 69-70)।

(**लेनिन** की रचना **'क्या करें?'** का अंश)

शीर्षक हमारा लगाया हुआ है – सम्पादक

संकट के दलदल में धंस रही भारतीय अर्थव्यवस्था

(पेज 1 से आगे)

जब विदेशी निवेशक भागने लगते हैं तो विदेशी मुद्रा (भारत के मामले में डॉलर) की माँग बढ़ती है, और इससे डॉलर के मुकाबले स्थानीय मुद्रा (रुपया) का मूल्य गिरता है। स्थानीय मुद्रा का मूल्य गिरने से अन्य विदेशी निवेशक भी डरने लगते हैं कि उनकी जो पूँजी यहाँ पर लगी हुई है, वह कहीं डूब न जाये। वे भी अपनी पूँजी (डॉलर में) निकालने लगते हैं। यह एक दुष्चक्र बन जाता है कि विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ने से स्थानीय मुद्रा के मूल्य में गिरावट आती है और फिर यह गिरावट विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ाती है। 1997 में यह तमाशा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में देखा जा चुका है।

रुपये के मूल्य में गिरावट से भारत में आयात और अधिक महँगा हो गया है। इससे भारत का व्यापार घाटा और अधिक तेज़ी से बढ़ेगा। रुपये के मूल्य में गिरावट से भारत का निर्यात ज़रूर बढ़ेगा, लेकिन निर्यात से होने वाली आमदनी कम हो जायेगी।

पिछले चार-पाँच वर्षों से भारत की मेहनतकश जनता महँगाई से बुरी तरह त्रस्त है। अर्थशास्त्र की भाषा में इसे मुद्रास्फ़ीति कहते हैं। रुपये के लगातार अवमूल्यन के चलते आने वाले दिनों में महँगाई बेतहाशा बढ़ने की उम्मीद है। रुपये के अवमूल्यन से भारत का निर्यात सस्ता हो जायेगा। जिन चीज़ों की भारत की जनता को ज़रूरत है वे विदेशी बाज़ारों में सस्ती दरों में बिकेंगी। भारतीय बाज़ार में इनकी कमी होने के चलते यहाँ इनकी कीमतें तेज़ी से बढ़ेंगी। पहले ही यहाँ से लाखों टन खाद्य-पदार्थ निर्यात किये जाते हैं। आने वाले दिनों में इनमें और वृद्धि होगी। जिस देश में 32 करोड़ लोग भूखे पेट सोते हों, वहाँ से खाद्य पदार्थों का निर्यात व्यवस्था का एक घिनौना अपराध है। रुपये के अवमूल्यन से भारत का आयात महँगा होगा। भारत के निर्यात का बड़ा हिस्सा पेट्रोलियम पदार्थ हैं। पेट्रोल की क़ीमतों में पहले ही सरकार रिकॉर्ड वृद्धि कर चुकी है। अब डीज़ल, मिट्टी का तेल तथा रसोई गैस की बारी है। डीज़ल की क़ीमतों के बढ़ने से यातायात तथा मालों की ढुलाई महँगी होगी जिससे सभी चीज़ों की क़ीमतें आसमान छूने लगेंगी। इसकी शुरुआत तो हो भी चुकी है।

मुद्रास्फीति को काबू में रखने के लिए रिज़र्व बैंक ने पिछले कई सालों से ब्याज दरें काफी ऊँची रखी हुई हैं। इससे भी महँगाई को काबू में रखने में कोई मदद नहीं मिली। अनेक पूँजीवादी अर्थशास्त्री तथा औद्योगिक समूह ऊँची ब्याज दरों को भी अर्थव्यवस्था की वर्तमान हालत के लिए ज़िम्मेदार ठहरा रहे हैं। अब रिज़र्व बैंक पर ब्याज दरें कम करने का दबाव डाला जा रहा है। अगर ऐसा होता है तो इससे मुद्रास्फ़ीति और बढ़ेगी। कहने का मतलब यह है कि आने वाले दिनों में भी भारत में मेहनतकश अवाम को महँगाई डायन से निजात नहीं मिलने वाली।

भारतीय अर्थव्यवस्था का संकट विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संकट का ही अंग है

अनेक बुर्जुआ अर्थशास्त्री तथा पूँजीपतियों के संगठन (सीआईआई, ऐसोचैम तथा फिक्की आदि) भारतीय अर्थव्यवस्था के वर्तमान संकट के लिए सरकारी नीतियों, धीमे आर्थिक सुधारों, सब्सिडियों, ऊँची ब्याज दरों आदि को दोषी ठहरा रहे हैं। दरअसल, भारतीय अर्थव्यवस्था का वर्तमान संकट विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संकट का ही अंग है। पूँजीवादी आर्थिक संकट किन्हीं सरकारी नीतियों की असफलता के चलते पैदा नहीं होते, बल्कि इनके कारण ढाँचागत होते हैं। पूँजीवादी संकट अति-उत्पादन का संकट होता है। यानी पैदावार का अधिक होना और उसकी माँग का कम होना। ग़ौरतलब है कि यह अति-उत्पादन जनता की ज़रूरतों से अधिक नहीं बल्कि बाज़ार की माँग से अधिक होता है। पूँजीवादी व्यवस्था का सरोकार जनता से नहीं बल्कि मुनाफ़े से होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर तो निजी मालिकाना होता है जबकि उत्पादन समाजीकृत होता है। मज़दूर अपनी मेहनत से जो भी पैदा करते हैं उसमें से मज़दूरों को उतना ही मिलता है जिससे वे बस ज़िन्दा रह सकें और मशीन के पुर्ज़ों की तरह काम कर सकें। उत्पादन के बड़े हिस्से पर पूँजीपतियों का कब्ज़ा होता है। इससे मेहनतकशों की क्रयशक्ति सीमित होती है। दूसरी ओर, उत्पादन के साधनों पर निजी मिल्कियत के चलते पूँजीपतियों में होड़ होती है, जिससे बार-बार अति-उत्पादन के संकट आते हैं। विश्व पूँजीवाद का वर्तमान संकट भी अति-उत्पादन का ही संकट है, जिसे अलग-अलग नाम दिये जाते हैं, कभी सबप्राइम संकट, कभी वित्तीय संकट, तो कभी कर्ज़ संकट।

भारतीय अर्थव्यवस्था आज विश्व पूँजीवाद का अभिन्न अंग बन चुकी है और वर्तमान संकट भी विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ इस कदर जुड़ जाने की ही देन है। यूँ तो भारतीय अर्थव्यवस्था पहले से ही विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अंग रही है, लेकिन 1991 में हुक्मरानों द्वारा अपनायी गयी उदारीकरण-निजीकरण-वैश्वीकरण की नीति जिसे नयी आर्थिक नीति भी कहा जाता है, ने भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अंग

(पेज 15 पर जारी)

साहित्य का पन्ना

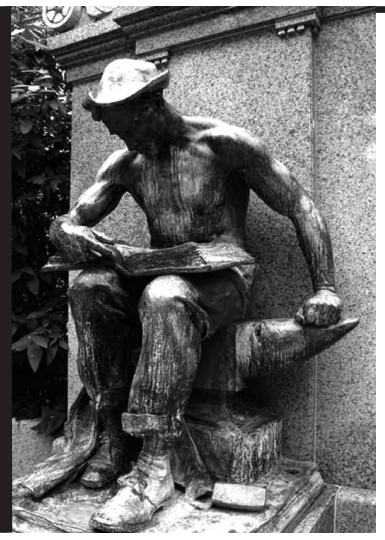

ग़रीबों में सन्तोष का नुस्ख़ा

चीन के महान क्रान्तिकारी लेखक

लू शुन

शिक्षक अपने बच्चों को नहीं पढ़ाता, उसके बच्चों को दूसरे ही पढ़ाते हैं। एक डॉक्टर अपना इलाज खुद नहीं करता, उसका इलाज कोई दूसरा डॉक्टर करता है। लेकिन अपना जीवन जीने का तरीक़ा हर आदमी को ख़ुद खोजना पड़ता है। क्योंकि जीने की कला के जो भी नुस्खे दूसरे लोग बनाते हैं वे बार-बार बेकार साबित होते हैं।

दुनिया में प्राचीन काल से ही शान्ति और चैन बनाए रखने के लिए ग़रीबी में सन्तोष पाने का उपदेश बड़े पैमाने पर दिया जाता है। ग़रीबों को बार-बार बताया जात है कि सन्तोष ही धन है। ग़रीबों में सन्तोष पाने के अनेक नुस्खे तैयार किये गये हैं, लेकिन उनमें में कोई पूरी तरह सफल साबित नहीं हुआ है। अब भी रोज़-रोज़ नये-नये नुस्खे बनाये जा रहे हैं। मैंने अभी हाल में ऐसे दो नुस्खों को देखा है। वैसे ये दोनों भी बेकार ही हैं।

इनमें में एक नुस्खा यह है कि लोगों को अपने कामों में दिलचस्पी लेनी चाहिए। 'अगर आप अपने काम में दिलचस्पी लेना शुरू कर दें तो काम चाहे कितना ही मुश्किल क्यों न हो, आप ख़ुशी से काम करेंगे और कभी नहीं थकेंगे।' अगर काम बहुत मुश्किल न हो तो यह बात सच हो सकती है। चलिए, हम खदान मज़दूरों और मेहतरों की बात नहीं करते। आइये हम शंघाई के कारख़ानों में दिन में दस घण्टे से अधिक काम करने वाले मज़दूरों के बारे में बात करें। वे मज़दूर शाम तक थक कर चूर-चूर हो जाते हैं। उन्हें उपदेश दिया जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन होता है। अगर आपको अपने शरीर की देखभाल की फ़ुर्सत नहीं मिलती तो आप काम में दिलचस्पी कहाँ से पैदा करेंगे। इस हालत में वही आदमी काम में दिलचस्पी ले सकता है जो जीवन में अधिक दिलचस्पी रखता हो। अगर आप शंघाई के मज़दूरों से बात करें तो वे काम के घण्टे कम करने की ही बात करेंगे। वे काम में दिलचस्पी पैदा करने की बात कल्पना में भी नहीं सोच सकते।

इससे भी अधिक पक्का नुस्खा दूसरा है। कुछ लोग अमीरों और ग़रीबों की तुलना करते हुए कहते हैं कि आग बरसाने वाले गर्मी के दिनों में अमीर लोग अपनी पीठ से बहते पसीने की धार की चिन्ता न करते हुए सामाजिक सेवा में लगे रहते हैं। ग़रीबों का क्या है? वे एक टूटी चटाई गली में बिछा देते हैं, फिर अपने कपड़े उतारते हैं और चटाई पर बैठकर आराम से ठण्डी हवा खाते हैं। यह कितना सुखद है। इसी को कहते है चटाई समेटने की तरह दुनिया को जीतना। यह सब दुर्लभ और राज्यात्मक नुस्खा है लेकिन इसके बाद एक दुखद दृश्य सामने आता है। अगर आप शरद ऋतु में गलियों से गुज़र रहे हों तो देखेंगे कि कुछ लोग अपने पेट कसकर पकड़े हुए हैं और कुछ नीला तरल पदार्थ कै कर रहे हैं। ये कै करने वाले वे ही ग़रीब लोग है जिनके बारे कहा जाता है कि वे धरती पर स्वर्ग का सुख लूटते हैं और चटाई समेटने की तरह दुनिया को जीतते हैं। मेरा ख़्याल है कि शायद ही कोई ऐसा बेवकूफ़ होगा जो सुख का मौका देखकर भी उससे लाभ न उठाता हो। अगर ग़रीबी इतनी सुखद होती तो ये अमीर लोग सबसे पहले गली में जाकर सो जाते और ग़रीबों की चटाई के लिए कोई जगह न छोड़ते।

अभी हाल में ही शंघाई के हाई स्कूल की परीक्षाओं के छात्रों के निबन्ध छपे है। उनमें एक निबन्ध का शीर्षक है 'ठण्डक से बचाने लायक कपड़े और भरपेट भोजन'। इस लेख में कहा गया है कि "एक ग़रीब व्यक्ति भी कम खाकर और कम पहनकर अगर मानवीय गुणों का विकास करता है तो भविष्य में उसे यश मिलेगा। जिसका आध्यात्मिक जीवन समृद्ध है उसे अपने भौतिक जीवन की ग़रीबी की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मानव जीवन की सार्थकता पहले में है, दूसरे में नहीं।"

इस लेख में केवल भोजन की ज़रूरत को नहीं नकारा गया है, कुछ आगे की बातें भी कही गयी हैं। लेकिन हाई स्कूल के छात्र के इस सुन्दर नुस्खे से विश्वविद्यालय के वे छात्र सन्तुष्ट नहीं हैं जो नौकरी खोज रहे हैं।

तथ्य नितान्त निर्मम होते है। वे खोखली बातों के परखचे उड़ा देते हैं। मेरे विचार से अब वह समय आ गया है कि ऐसी पण्डिताऊ बकवास को बन्द कर दिया जाय। अब किसी भी हालत में इसका कोई उपयोग नहीं है।

– 13 अगस्त 1934

अनुवादः चन्द्र सदायत

कचोटती स्वतन्त्रता

तुर्की के महान कवि **नाज़िम हिकमत** की कविता

तुम खर्च करते हो अपनी आँखों का शऊर,
अपने हाथों की जगमगाती मेहनत,
और गूँधते हो आटा दर्जनों रोटियों के लिए काफ़ी
मगर ख़ुद एक भी कौर नहीं चख पाते;
तुम स्वतंत्र हो दूसरों के वास्ते खटने के लिए–
अमीरों को और अमीर बनाने के लिए
तुम स्वतंत्र हो।

जन्म लेते ही तुम्हारे चारों ओर
वे गाड़ देते हैं झूठ कातने वाली तकलियाँ
जो जीवनभर के लिए लपेट देती हैं
तुम्हें झूठों के जाल में।
अपनी महान स्वतंत्रता के साथ
सिर पर हाथ धरे सोचते हो तुम
ज़मीर की आज़ादी के लिए तुम स्वतंत्र हो।

तुम्हारा सिर झुका हुआ मानो आधा कटा हो
गर्दन से,
लुंज-पुंज लटकती हैं बाँहें,
यहाँ-वहाँ भटकते हो तुम
अपनी महान स्वतंत्रता में:
बेरोज़गारी रहने की आज़ादी के साथ
तुम स्वतंत्र हो।

तुम प्यार करते हो देश को
सबसे करीबी, सबसे क़ीमती चीज़ के समान।
लेकिन एक दिन, वे उसे बेच देंगे,
उदाहरण के लिए अमेरिका को
साथ में तुम्हें भी, तुम्हारी महान आज़ादी समेत
सैनिक अड्डा बन जाने के लिए तुम स्वतंत्र हो।

तुम दावा कर सकते हो कि तुम नहीं हो
महज़ एक औज़ार, एक संख्या या एक कड़ी
बल्कि एक जीता-जागता इंसान–
वे फ़ौरन हथकड़ियाँ जड़ देंगे
तुम्हारी कलाइयों पर।
गिरफ़्तार होने, जेल जाने
या फिर फाँसी चढ़ जाने के लिए
तुम स्वतंत्र हो।

नहीं है तुम्हारे जीवन में लोहे, काठ
या टाट का भी परदा;
स्वतंत्रता का वरण करने की कोई ज़रूरत नहीं:
तुम तो हो ही स्वतंत्र।
मगर तारों की छाँह के नीचे
इस क़िस्म की स्वतंत्रता कचोटती है।

संकट के दलदल में धंस रही भारतीय अर्थव्यवस्था

(पेज 14 से आगे)

बना देने के रुझान को खूब बढ़ावा दिया। अब विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में होने वाली हर हलचल सबसे पहले बॉम्बे स्टॉक एक्सचेंज के उतार-चढ़ावों में दिखायी देती है तथा बाद में अर्थव्यवस्था के विभिन्न सेक्टरों में अपना असर दिखाती है। विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के 2007 से शुरू हुए संकट का अभी तक भारतीय अर्थव्यवस्था पर कम प्रभाव पड़ा था। इसकी एक वजह तो यह थी कि भारत में आधारभूत ढाँचे तथा अन्य उद्योगों में निवेश की काफ़ी सम्भावनाएँ थीं (आधारभूत ढाँचे में तो अभी भी हैं) और यहाँ पर बड़े पैमाने पर पूँजी निवेश हो रहा था। इसकी दूसरी वजह यह थी कि संकट की सर्वाधिक मार झेल रहे विकसित पूँजीवादी देशों ने अपने यहाँ अर्थव्यवस्था में बड़े पैमाने पर पूँजी झोंककर वहाँ माँग तथा आर्थिक वृद्धि दर को बनाये रखा था। इससे भारत जैसे देशों से इन देशों को मालों का निर्यात बाधित नहीं हुआ था।

तथाकथित उभर रही अर्थव्यवस्थाएँ, जिनमें भारत भी अगली कतार में है, अपने निर्यात के लिए काफ़ी हद तक विकसित पूँजीवादी देशों पर निर्भर हैं। इसलिए, उन देशों के आर्थिक संकट से सबसे पहले इन देशों का निर्यात प्रभावित होता है। अमेरिका तथा यूरोपीय यूनियन पर भारत अपने लगभग एक तिहाई निर्यात के लिए निर्भर है। ये देश इस समय भीषण मन्दी से गुज़र रहे हैं जिसके चलते इन देशों में भारत से आयात की माँग काफ़ी कम हुई है।

भुगतान सन्तुलन के आँकड़ों के मुताबिक 2010-2011 में सॉफ़्टवेयर सेवाओं के निर्यात से भारत की कुल आमदनी, कुल व्यापारिक निर्यात की आमदनी का 24 प्रतिशत थी। 2009-10 में भारत के कुल सॉफ़्टवेयर निर्यात में अमेरिका का हिस्सा 61 प्रतिशत था, जबकि यूरोपीय यूनियन के देशों का हिस्सा 26 प्रतिशत था। 2004-05 से 2009-10 तक की अवधि में भारत के सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि में सेवाओं का हिस्सा 66 प्रतिशत था तथा सॉफ़्टवेयर सेवाओं से आमदनी, सेवाओं (जन प्रशासन तथा रक्षा को छोड़कर) से हासिल सकल घरेलू उत्पाद की 9.4 प्रतिशत थी। सॉफ़्टवेयर निर्यात में गिरावट भारत के सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर को बुरी तरह से प्रभावित कर रही है।

भारतीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान चाल-ढाल बता रही है कि आने वाले दिनों में इसका संकट और गहरायेगा। यह संकट भारत के मेहनतकश अवाम के लिए भी ढेरों मुसीबतें लेकर आयेगा। शासक वर्ग अपने संकट का बोझा मेहनतकश जनता की पीठ पर ही लादते हैं। उसे ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई में और अधिक बढ़ोत्तरी से इसकी क़ीमत चुकानी होगी। भारत के मेहनतकशों को भी इन हालात का सामना करने और संकट का बोझ जनता पर थोपने की कोशिशों के विरुद्ध लड़ने के लिए अभी से तैयारी शुरू कर देनी होगी।

पेट्रोल मूल्य वृद्धि लोगों की जेब पर सरकारी डाकेज़नी

22 मई को यूपीए-2 के तीन वर्ष पूरे होने पर एक जश्न मनाया गया । इसमें यूपीए-2 की उपब्लधियों के कसीदे पढ़े गये। इस मौके पर यूपीए अध्यक्ष सोनिया गाँधी ने कांग्रेसजनों को भाषण पिलाते हुए कहा कि हमें विपक्ष पर आक्रामक तेवर अपनाते हुए अपनी उपलब्धियों की चर्चा करनी चाहिए। लेकिन कांग्रेसियों के आक्रामक तेवर अपनाने से पहले ही उनको बचाव की मुद्रा में आना पड़ा क्योंकि तेल कम्पनियों ने पेट्रोल के दाम में रिकार्डतोड़ 7.50 रुपये की वृद्धि कर महँगाई से बदहाल जनता पर और बोझ बढ़ा दिया। यूपीए-2 के राज में पेट्रोल की कीमत 40 रुपये से 73 रुपये तक पहुँच गयी है यानी दोगुने से कुछ ही कम। वैसे सरकार इस मूल्य वृद्धि से पल्ला झाड़ते हुए तर्क दे रही है कि 26 जून 2011 (पेट्रोल के नियंत्रण मुक्त होने के बाद) से तेल कम्पनियाँ खुद ही पेट्रोल के दाम में बढ़ोत्तरी तय करती हैं। तकनीकी तौर से ये तर्क चल सकता है। लेकिन आज से पाँच महीने पहले अन्तरराष्ट्रीय बाजार में तेल के दाम ऊँचे हो गये थे और कम्पनियों ने तेल के दाम नहीं बढ़ाये थे। कारण साफ था–तब पाँच राज्यों में विधानसभा चुनाव थे और अब मूल्य वृद्धि की घोषणा भी तब की गयी जब संसद सत्र ख़त्म हो गया था और यूपीए तीन वर्ष पूरे होने का जश्न मना चुकी थी। तेल की यह राजनीति साफ तौर पर दिखाती है कि सरकार अपने राजनीतिक फ़ायदे-नुकसान के हिसाब से तेल कम्पनियों को हरी झण्डी दिखाती है। चलिये सरकार की झूठी दलीलों के बाद तेल कम्पनियों के घाटे की असलियत का पर्दाफ़ाश करते हैं।

सरकार और तेल कम्पनियों के घाटे की असलियत

सरकार और तेल कम्पनियाँ पेट्रोल के दाम बढ़ाने के लिए हमेशा झूठ के पहाड़ खड़े करती हैं। इस बार भी पेट्रोल के दामों में रिकॉर्ड बढ़ोतरी के बाद तेल कम्पनियाँ मुख्यत: दो तर्क दे रही हैं। पहला तर्क है कि तेल कम्पनियों को डीज़ल, गैस और किरासन पर सरकारी नियंत्रण होने की वजह से घाटा हो रहा है जो करीब 1.86 लाख करोड़ का है; और दूसरा तर्क है डॉलर के मुकाबले रुपये के मूल्य में आयी गिरावट से तेल का आयात महँगा हो गया है। लेकिन इन दोनों ही तर्कों का गणित बड़ा पेचीदा और अटपटा है।

पहले तर्क को देखें तो सरकार और तेल कम्पनियाँ जिस घाटे का रोना रो रही है वह घाटा तेल कम्पनियों की बैलेंस शीट में कहीं नहीं दिखता! तेल कम्पनियों के शुद्ध मुनाफ़े की बात की जाये तो 2011 की वार्षिक रिपोर्ट के मुताबिक इण्डियन आयल को 7445 करोड़, हिन्दुस्तान पेट्रोलियम को 1539 करोड़ और भारत पेट्रोलियम को 1547 करोड़ रुपये का मुनाफ़ा हुआ। प्रतिष्ठित 'फार्च्यून' पत्रिका के अनुसार दुनिया की आला 500 कम्पनियों की सूची में भारत की तीनों सरकारी तेल कम्पनियाँ इण्डियन ऑयल (98वें स्थान पर), भारत पेट्रोलियम (271 पर) तथा हिन्दुस्तान पेट्रोलियम (335 पर) शामिल हैं। इसके बाद भी अगर तेल कम्पनियाँ घाटे की दुहाई देती हैं तो वे हवई जहाज़ों में इस्तेमाल होने वाले टरबाइन फ़्यूल यानी एटीएफ़ की कीमतों में वृद्धि क्यों नहीं करती हैं जबकि कई राज्यों में तो एटीएफ़ पेट्रोल से भी सस्ता है! बताने की ज़रूरत नहीं है कि विमान ईंधन के कम दामों का लाभ देश के खाते-पीते 10 फीसदी उच्च वर्ग को मिलता है।

पेट्रोल – अमीरों की विलासिता की क़ीमत चुकाते हैं ग़रीब

तेल की बढ़ती क़ीमतों का सबसे अधिक असर ग़रीबों पर पड़ता है क्योंकि इससे हर चीज़ की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी होने लगती है। लेकिन इसके लिए वे ज़िम्मेदार नहीं हैं। वे तो पेट्रोलियम पदार्थों का बहुत ही कम इस्तेमाल करते हैं। भारत में पेट्रोल के कुल खर्च का सबसे बड़ा हिस्सा कारों पर होता है। एक तरफ़ सरकार लोगों को तेल की बचत करने के लिए विज्ञापनों पर करोड़ों रुपये फूँकती है, दूसरी तरफ देश में कारों की बिक्री को ज़बर्दस्त बढ़ावा दिया जा रहा है। देश के अमीरों और खाते-पीते मध्य वर्ग के लिए हर महीने कारों के नये-नये मॉडल बाज़ार में उतारे जा रहे हैं। कार कम्पनियाँ एक ऐसी जीवनशैली को बढ़ावा दे रही हैं जिसमें एक-एक परिवार के पास कई-कई गाड़ियाँ हैं और लोग यूँही मटरगश्ती के लिए कई लीटर पेट्रोल फूँक डालते हैं। अमीरों का नया शौक है बड़ी-बड़ी गाड़ियों में घूमना जो आम कारों के मुकाबले दोगुने से भी ज़्यादा तेल पी जाती हैं। किसी भी महानगर की सड़कों पर दौड़ने वाली कारों के भीतर देखिये, तो आधी से ज़्यादा कारों में अकेला व्यक्ति या दो लोग बैठे नज़र आयेंगे। दूसरी तरफ़ सार्वजनिक परिवहन की हालत ऐसी है कि बसों में लोग बोरियों की तरह लदे हुए चलते हैं। मंत्रियों ही नहीं, तमाम पार्टी नेताओं के काफ़िले में दर्जनों कारें बिना किसी काम के दौड़ती रहती हैं। पेट्रोल के दाम बढ़ने से अब अमीरों ने डीज़ल कारों पर नज़र गड़ा दी है। पिछले कुछ वर्षों में स्कॉर्पियो, इन्नोवा जैसी बड़ी-बड़ी एसयूवी कारों के डीज़ल मॉडलों की बिक्री में भारी इज़ाफ़ा हुआ है। इसकी वजह से अब सरकार को डीज़ल के दाम बढ़ाने के लिए भी तर्क मिल गया है। आने वाले समय में डीज़ल के दामों में भी भारी बढ़ोत्तरी करने की तैयारी अन्दरखाने चल रही है।

तेल कम्पनियों के दूसरे तर्क पर ग़ौर करें तो यह भी आँकड़ों की बाज़ीगरी से ज्यादा कुछ नहीं हैं। तेल कम्पनियों का कहना है कि भारत में 80 फ़ीसदी तेल विदेशों से आयात करना पड़ता है जिसका भुगतान डॉलर में किया जाता है, इसलिए आज जब 1 डॉलर की कीमत 46 रुपये से बढ़कर 56 रुपये पहुँच गयी है तो उनको कच्चे तेल के लिए ज़्यादा कीमत देनी पड़ रही है। ये तेल कम्पनियाँ डॉलर के मुकाबले रुपये में आयी गिरावट पर तो हल्ला मचा रही हैं लेकिन अन्तरराष्ट्रीय तेल की प्रति बैरल कीमतें सस्ती होने की बात छिपा रही हैं। क्योंकि सच यह है कि पिछले साल जब अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल के दाम 114 डॉलर प्रति बैरल थे तब भी तेल कम्पनियाँ घाटा बता रही थीं; आज जब कच्चा तेल 91.47 डॉलर प्रति बैरल हो गया है तो भी कम्पनियाँ घाटा बता रही हैं और पेट्रोल के दाम बढ़ाने के पीछे रुपये में आयी गिरावट को ज़िम्मेदार बता रही हैं। लेकिन अगर डॉलर 10 रुपये महँगा हुआ है तो कच्चा तेल भी तो 22 डॉलर सस्ता हुआ है। यानी आज तेल कम्पनियाँ रुपये की गिरावट के बावजूद पहले से सस्ता कच्चा तेल ख़रीद रही हैं।

दूसरी तरफ सरकार आज 1 लीटर पेट्रोल की कीमत 73.14 रुपये में से 32 रुपये टैक्स के रूप में वसूलती है। मतलब साफ़ है, इस मूल्य वृद्धि से सबसे अधिक लाभ सरकार को होता है, जो बजट घाटे का रोना रोती रहती है। यह बजट घाटा इसलिए नहीं पैदा हुआ कि सरकार भारत के मेहनतकशों और मज़दूरों पर ज़्यादा ख़र्च कर रही है। यह बजट घाटा इसलिए पैदा हुआ है क्योंकि सरकार बैंकों को अरबों रुपये के बेलआउट पैकेज देती है, कारपोरेट घरानों के हज़ारों करोड़ के कर्ज़ों को माफ़ करती है और उन्हें टैक्सों में भारी छूट देती है, धनी किसानों को ऋण माफ़ी देती है और देश के धनिक वर्ग पर करों के बोझ को घटाती है। इसके अलावा, ख़ुद सरकार और उसके मंत्रियों-आला अफ़सरों के भारी तामझाम पर हज़ारों करोड़ रुपये की फ़िज़ूलखर्ची होती है। ज़ाहिर है, अमीरों को सरकारी ख़ज़ाने से ये सारे तोहफ़े देने के बाद जब ख़ज़ाना ख़ाली होने लगता है, तो उसकी भरपाई ग़रीब मेहनतकश जनता को लूटकर की जाती है। पेट्रोल के दामों में वृद्धि और उस पर वसूल किये जाने वाले भारी टैक्स के पीछे भी यही कारण है।

पेट्रोलियम पदार्थ (पेट्रोल, डीज़ल व अन्य) ऐसी चीजें है जिनके मूल्यों में वृद्धि से अन्य वस्तुओं के दाम भी बढ़ जाते हैं। सरकार कहती है कि पेट्रोल पदार्थों पर छूट देने से कम्पनियों को 1.86 लाख करोड़ रुपये का घाटा होता है लेकिन वह भूल जाती है कि पेट्रोलियम पर सबसे अधिक टैक्स तो वही लेती है। सरकार कहती है कि अगर वह पेट्रोल, डीज़ल व रसोई गैस पर छूट देती है तो उसका बजट घाटे में चला जाता है। असल में सरकार इस वित्तीय घाटे को कम करने की आड़ में गैस, किरासन और डीज़ल से भी सब्सिडी और सरकारी नियंत्रण को ख़त्म करके इसे भी सीधे बाज़ार के हवाले करना चाहती है।

इस "सरकारी घाटे" के हम तो ज़िम्मेदार नहीं

आज वित्तमंत्री से लेकर प्रधानमंत्री तक सरकारी घाटे को कम करने के लिए कड़े फैसले लेने की बात करते हैं। मगर सरकार के सारे कड़े फ़ैसलों का निशाना जनता को मिल रही थोड़ी-बहुत रियायतें ही होती हैं। इसी कारण सरकार जनता को दी जा रही सब्सिडी और छूट के नाम पर घाटे का रोना शुरू कर देती है। लेकिन जब पूँजीपतियों को छूट और टैक्स माफ़ी की बात आती है तो सरकार दिल खोलकर सरकारी ख़ज़ाना लुटाती है। इस वित्त वर्ष में कारपोरेट टैक्सों में लगभग 80,000 करोड़ रुपये की छूट दी गयी है। प्रतिदिन 240 करोड़ रुपये कारपोरेट घरानों को छूट दी जा रही है। वर्ष 2010-11 के बजट में पूँजीपति वर्ग को 5.11 लाख करोड़ रुपये की सहायता एवं छूट दी गयी। अर्थात बजट का लगभग 50 प्रतिशत हिस्सा सरकार सीधे तौर पर पूँजीपतियों को छूट के रूप में दे देती है। अमीरज़ादों को प्रत्यक्ष कर में 4500 करोड़ रुपये की छूट दी गयी है। अक्टूबर 2010 तक देश में 578 विशेष आर्थिक क्षेत्र (एस.ई.ज़ेड) औपचारिक रूप से मंज़ूर किये जा चुके हैं जिनमें सरकार द्वारा मुफ़्त बिजली, पानी, ज़मीन तथा टैक्स छूट दी जाती है। तब सरकार को कोई घाटा नहीं होता है! इस वित्त वर्ष में कारपोरेट आय कर में सरकार ने 50000 करोड़ रुपये माफ़ कर दिया तब वित्तीय घाटा नहीं हुआ। आज जब महँगाई से आम जनता तबाह है तो ऐसे में पेट्रोल, डीज़ल व रसोई गैस की कीमतों में वृद्धि महँगाई को और बढ़ायेगी। सरकारें जनता की जेब से एक-एक पाई तक छीन लेना चाहती हैं।

तमाम चुनावी पार्टियां भी इस मूल्य वृद्धि का विरोध कर रही हैं। बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी कह रही हैं कि पेट्रोल की मूल्य वृद्धि को बर्दाश्त नहीं करेंगी। दूसरी तरफ भाजपा पेट्रोल की वृद्धि पर अपने नकली विरोध-प्रदर्शनों के बेअसर होने से बौखलायी नज़र आ रही है और अपने को जनता का हितैषी बताने की पूरी कोशिश कर रही है। मज़दूरों की नामलेवा संसदीय वामपंथी पार्टियाँ भाकपा-माकपा भी हो-हल्ला कर रही हैं। पर यह महज़ वोट की राजनीति में अपना उल्लू सीधा करने के लिए है। मामला साफ़ है ये घड़ियाली आँसू केवल लोगों को बरगलाने के लिए हैं। वैसे भी आज उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों पर सभी चुनावी मदारी सहमत हैं।

– अजय स्वामी

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006